बिगड़ जाती है । शिक्षा ही व्यक्ति और समाज के मानसिक और बौद्धिक जीवन को प्रकृष्ट और उत्कृष्ट बनाती है और समाज की प्रगति को दिशा और विवेक प्रदान करती है । प्रगति की इसी विवेकशील दिशा का नाम योजना और विकास है । किंतु सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते स्वयं शिक्षा को भी गति और स्थिति दोनों के संतुलन की अपेक्षा है । सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते शिक्षा प्रकृति, परंपरा और परिवेश के संदर्भ में ही संपन्न होती है । अतएव शिक्षा की प्रगति और समाज की व्यवस्थिति इन दोनों का प्राण और आत्मा का-सा संबंध है । जो भी शिक्षा पद्धति समाज की प्रकृति, परंपरा और परिवेश की अवहेलना करेगी अथवा उसी व्यवस्थिति में निहित गति-संतुलन की सीमाओं का आदर नहीं करेगी वह कभी सफल नहीं हो सकेगी । साइमन कमिशन के मतानुसार अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने भारत के आधारभूत मूल्यों का और उसकी परंपरा और सामाजिक प्रतिमानों का आदर नहीं किया । इसी कारण उसके उद्देश्य और लक्ष्य दोनों ही पूरे नहीं हुए । प्रकृति में तो लेखा-जोखा पूरा रहता है, कोई हिसाब उधार नहीं रहता ।

अंग्रेजी-शिक्षा-क्षेत्र में प्रकृति और परंपरा की इस प्रतिक्रिया को समझने के लिए दो और बातों का समझना आवश्यक है : एक व्यक्ति और समाज का संबंध और दूसरा समाज और सरकार का संबंध ।

व्यक्ति और समाज का संबंध वैसा ही है जैसा सुर और संगीत का या जैसा तार या वीणा का । सुरों की संगति संगीत है, व्यक्तियों की संगति समाज है । सारे सुरों से मिलकर राग बनता है जिसमें ऊंचे और नीचे, सभी सुर सार्थक हैं । सुर एक भी बिगड़ जाएगा तो संगीत की व्यवस्थिति बिगड़ जाएगी । राग नहीं बना तो कोई भी सुर सार्थक नहीं होगा । सुर के बिना राग नहीं और राग के बिना सुर नहीं । इसी प्रकार व्यक्तियों की संगति के बिना समाज नहीं और समाज के बिना व्यक्ति नहीं ।

सुर यों तो सात माने गए हैं किंतु इससे आगे प्रत्येक सुर के अनेक प्रवर्तन हैं । उन सभी प्रवर्तनों की सिद्धि के लिए सुर को साधना पड़ता है और उसे साधकर राग में संजोना पड़ता है । सुर को साधने के लिए मन और वीणा को साधना पड़ता है । तारों की संगति वीणा है । तारों के बिना वीणा नहीं और वीणा के बिना तार का अर्थ नहीं । तारों की संगति में संगीत निहित है जिसे जगाने के लिए कलाकार की प्रेरणा झंकार आवश्यक है । किंतु संगीत शक्ति को जगाने के लिए प्रत्येक तार में इष्टतम तनाव आवश्यक है । तनाव कम या अधिक होने पर सुर नहीं निकलता, न राग की रचना होती । समाज में भी शक्ति वैसे ही निहित होती है जैसे वीणा में संगीत किंतु उसी शक्ति को जगाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक सदस्य इष्टतम तनावपूर्ण हो अर्थात् सप्राण हो । व्यक्ति और समाज दोनों की प्राणदा प्रेरणा और प्रक्रिया शिक्षा ही है । शिक्षा से ही दोनों की शक्ति साधना होती है । जैसे कलाकार, वीणा और संगीत इन तीनों के बीच सामंजस्य होता है वैसे ही शिक्षक (शिक्षा पद्धति), समाज और सेमाज शक्ति-प्रगति में भी सामंजस्य होना चाहिए । सामंजस्य अर्थात् संगति के बिना न संगीत है, न शक्ति न प्रगति ।

शिक्षा व्यवस्था समाज व्यवस्था का ही अंग है । सरकार भी समाज व्यवस्था का ही अंग

है । सरकार होने के नाते उसे सारी समाज व्यवस्था (एवं शिक्षा व्यवस्था) का सन्नियोजन और संचालन करना पड़ता है । इसी कारण शिक्षा व्यवस्था, सरकार व्यवस्था और समाज व्यवस्था इन तीनों में संगति होना अत्यंतावश्यक है । तालमेल बिगड़ने पर संव्यवस्था बिगड़ जाती है । इस संगति में शिक्षा द्विपक्षीय प्रक्रिया है : एक सामयिक और दूसरे पारस्परिक । सामयिक स्तर पर समाज और सरकार, परिवेश और सामयिक मूल्यों/आवश्यकताओं से इसका सामंजस्य आवश्यक है । पारंपरिक स्तर पर समाज के इतिहास-पुराण, साहित्य और सनातन मूल्यों और शाश्वत प्रतिमानों से तालमेल आवश्यक है । संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा का तालमेल सामूहिक रूप से यदि सरकार, समाज व्यवस्था, परंपरा और परिवेश, अतीत के आधारस्तंभ, वर्तमान की आवश्यकता और भावी दिशा से नहीं होगा तो समाज की अंतर्निहित प्राकृत शक्ति से प्रेरित सांस्कृतिक उन्नति नहीं होगी, न आर्थिक प्रगति होगी, न सामाजिक । प्रकृति कभी निष्प्राण स्थिति को सहन नहीं करती, खड़ा पानी तो सड़ेगा ही । खड़े समुद्र में तूफान भी आ सकता है । शिक्षा समाज और सरकार का संतुलन बिगड़ना भी एक प्रतिक्रिया हो सकती है । तीनों की तीन दिशाएं भी हो सकती हैं और तीनों खड़े के खड़े ही रह जाएं तो भी आश्चर्य नहीं ।

भारत में जब से अंग्रेजी शिक्षा का संकल्प किया गया या शिक्षा प्रक्रिया का प्रारंभ किया गया तभी से शिक्षा समाज और सरकार में सामंजस्य नहीं रहा । भारत की परंपरा, इतिहास, मूल्यों और प्रतिमानों का आदर किया ही नहीं गया । यदि वर्तमान दशा की ओर कभी ध्यान दिया गया तो ब्रिटेन और सरकार की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को देखकर उन्हीं की पूर्ति का आयोजन किया गया और शिक्षा को मात्र एक सरकारी उपकरण मानकर राजसेवा में जोड़ दिया गया । स्थिति बिगड़ गई । प्रगति हुई नहीं और व्यवस्थिति भी नहीं आई । प्रकृति के स्थान पर विकृति आ गई और उसके आने पर संस्कृति का ह्रास हुआ । जीवन में समता के स्थान पर विषमता आ गई ।

शिक्षा का उद्देश्य प्रारंभ से कहने को तो भारत का मानसिक (बौद्धिक), सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास ही था किंतु हम देख चुके हैं कि इस विकास की दिशा केवल ब्रिटेन की ओर थी । आर्थिक स्तर पर ग्रांट, मकाले और शिक्षा भारती परिपत्र (1854) के समय भारत को कच्चे माल की उपज और पक्के माल की खपत का विशाल क्षेत्र ही माना गया था । सांस्कृतिक स्तर पर पहले तो धर्म-परिवर्तन और बाद में शिक्षा-परिवर्तन, अंग्रेजीकरण और सभ्यता-परिवर्तन । सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर राजभक्ति और मानसिक स्तर पर ब्रिटिश प्रतिमानों का अनुकरण । शिक्षा को राजसेवा, राजप्रतिष्ठा और साम्राज्य-विस्तार योजना का अंग मान लिया गया । जब यह आपत्ति की गई कि अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों की प्रगति राजसेवा की दिशा में नहीं बल्कि राजद्रोह की दिशा में स्वतंत्रता-प्राप्ति के उद्देश्य से होगी तो या तो इस संभावना को नकार दिया गया या यह कह दिया गया कि यथासमय ऐसी मांग आने पर ब्रिटेन के अंग्रेजीविद् उत्तराधिकारी तैयार हो चुके होंगे जिनको सत्ता सौंपकर ब्रिटेन उन्हीं से हर क्षेत्र में स्थायी सहयोग की आशा तो कर ही सकेगा । इन्हीं उत्तराधिकारियों को आगे बढ़ाने के लिए

मित्रभेद के मूलमंत्र का सहारा लिया गया था ।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद ब्रिटिश सत्ता परेशान होने लगी थी । परेशान तो वह प्रारंभ से ही थी, विशेषकर 1857 के पश्चात्, किंतु शताब्दी के मोड़ पर तो परेशानी बहुत ही बढ़ गई थी । लार्ड कर्ज़न की निराशा और क्षोभ हम देख चुके हैं । चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने कल्पना की थी कि एक देश की राजनीतिक शिक्षा में समय लगता है और जैसे-जैसे यह शिक्षा भारत में काम करेगी हम निश्चिंत होते चले जाएंगे । यह 1838 में कहा गया था । जब राजनीतिक पासा उलटा पड़ता दीखा तो मानसिक परिवर्तन का सहारा लिया गया । किंतु 1882 से 1919 तक शिक्षा-प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने के बाद जब शिक्षा व्यापार केवल भूसा बाजार के रूप में दीखा तो मानसिक विकासार्थ भारतीय माध्यम की ओर बार-बार ध्यान दिया गया । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने द्विभाषी शिक्षा पद्धति का सुझाव दिया : भावना की अभिव्यक्ति और काव्य की समृद्धि के लिए भारती (बंगला) और बुद्धि के विकास एवं राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिए अंग्रेजी । 1814 में तो भावनात्मक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए देशीय भाषाओं को माध्यम बनाने का सुझाव देने पर गवर्नर-जनरल की शिक्षा समिति को डांट पड़ी थी । अब 1919 में विवश होकर यह सुझाव सामने लाना पड़ा । किंतु ध्यान देने पर पता चलेगा कि बल वास्तव में बंगला पर नहीं, अंग्रेजी और अंग्रेजी के माध्यम से राजसेवार्थ मानसिक परिवर्तन पर ही था ।

बुद्धि-विकास का उद्देश्य 1924 में भी राजसेवा और साम्राज्य-विस्तार ही रहा । शिमला में आयोजित कान्फ्रेंस आफ इंडियन यूनिवर्सिटीज़ के सामने वाइसराय महोदय ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन को साधुवाद देते समय कहा था : यदि मुझसे पूछा जाए कि विश्वविद्यालय भारत की सबसे बड़ी सेवा क्या कर सकते हैं तो मैं निस्संदेह यही उत्तर दूंगा कि वे बुद्धि के साम्राज्य को इतना विकसित कर दें कि वह (बुद्धि-विकास) भारतीय साम्राज्य के समसीम हो जाए । आगे उन्होंने कहा कि यह जानी-मानी बात है कि यूनिवर्सिटी शिक्षा के फलस्वरूप एक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार तथ्यों की जांच करके अपनी बुद्धि का प्रयोग करने और संतुलित निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त होनी चाहिए । इस प्रकार बुद्धि का प्रकाश तो राज दिशा में ही अपेक्षित रहा, साथ में भावना को बुद्धि से अलग ही माना गया । उन्होंने भावना, चेतना और भाव-तरंग की बात भी कही । उन्होंने कहा कि इन सबका महत्त्व है और ये मनुष्य के जीवन में कभी-कभी क्षणिक उज्ज्वलता भी ले आते हैं किंतु ये बुद्धि के उदात्त समरस और स्थायी प्रकाश की बराबरी तो नहीं कर सकते । वे कभी-कभी आवेग और आंतरिक चेतना के रूप में दैवी प्रेरणा से छटकते हैं किंतु हैं तो टूटे तारे की तरह—संदिग्ध प्रकाश, विषम गति और दिशाभ्रांत । यूनिवर्सिटी का ही यह विशिष्ट दायित्व है कि स्नातकों को निश्चित और दिशासूचक बुद्धि का प्रकाश प्रदान करे ।[3] दो रास्ते सामने रखे गए : एक विषम और संदिग्ध, दूसरा पक्का और

2. 'एज्यूकेशन आफ दि पीपल् आफ इंडिया', पृ० 194-95
3. देखिए : 'ब्यूरो आफ एज्यूकेशन', पत्रिका सं० 18, पृ० 4

निर्दिष्ट, साम्राज्य का समवर्ती और समसीम । भावना देसी, बुद्धि अंग्रेजी, दिशा ब्रिटिश ।

जो बात वाइसराय महोदय ने 1924 में कही, वही लार्ड कर्ज़न बीस वर्ष पहले कह चुके थे और वही सौ वर्ष पहले से कही जा रही थी । यह बात महाराजाधिराज जॉर्ज पंचम ने 1911 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के समक्ष कही और उन्हीं की बात को साइमन कमिशन की शिक्षा-विषयक सहायक समिति ने 1929 में दुहराया । सम्राट ने कहा था : मेरी इच्छा यह है कि इस देश में स्कूलों और कालेजों का जाल बिछा दिया जाए जिनमें से राजभक्त (लायल), बहादुर और कामदार नागरिक निकलें जो कृषि, उद्योग और दूसरे सभी क्षेत्रों में अपना स्थान बना सकें । हमारी यह भी इच्छा है कि हमारी भारतीय प्रजा के घरों में ज्ञान के दीप जलें, उनके परिश्रम का फल मीठा हो, उनके विचार का स्तर ऊंचा हो, वे स्वस्थ हों और आराम से रहें । हमारी यह इच्छा शिक्षा से ही पूरी हो सकती है ।[4] सम्राट से लेकर शिक्षा-निदेशकों तक केवल एक ही चिंता : राजभक्ति, राजसेवा, दिशा-निर्देश ।

शिक्षा को जब राजसेवा की दिशा में नियोजित किया गया था तो एक संभावना को दृष्टि में रख के किया गया था : नियति को यदि यही अभीष्ट है कि ब्रिटिश शासन भारत छोड़कर वापस लौट जाए तो उस दिन का सामना कैसे किया जाए ? चार्ल्स ग्रांट ने तो कहा था कि यदि यह प्रश्न किसी दिन खड़ा हो ही गया तो राज की अपेक्षा हमें शिक्षा को ही चुनना होगा क्योंकि ऐसा करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा । उनके शिष्य लार्ड मकाले ने उनके सपनों के अनुरूप शिक्षा की रूपरेखा तैयार कर दी और संभाव्य विदाई के समय के लिए उत्तराधिकारियों के सांस्कृतिक परिवर्तन की योजना भी बना दी ताकि वे ब्रिटिश परंपरा को जारी रख सकें । सभ्यता-परिवर्तन के माध्यम से पक्के माल की खपत का आयोजन भी कर लिया । बाद में सत्ता और नीति के सहारे भारत के घरेलू उद्योगों को ब्रिटिश कारखानों के मुकाबले में समाप्त ही कर दिया गया । अतः भारतीय समाज को आर्थिक और सामाजिक तौर पर दो वर्गों में बांटने की योजना बनती रही : एक प्रशासक और दूसरा शासित वर्ग । एक ब्रिटिश दिशा में सोचने वाला और दूसरा शेक्सपियर के नाटक 'ऐज़ यू लाइक इट' के पात्र कोरिन जैसा देहाती वर्ग जो केवल अपने परिवेश में सीमित रह कर इतना जाने कि सूर्य निकलता है तो गर्मी आती है और बादल आते हैं तो वर्षा हो सकती है । लार्ड कर्ज़न ऐसे किसान से सहानुभूति रखते थे और नए शिक्षित नेतागण से चिढ़ते थे । वे कहते थे कि इन नौजवानों का दिमाग घूम गया है । इसी कारण लार्ड कर्ज़न ने एक सहज सामाजिक प्रतिक्रांति की योजना बनाने का प्रयास किया था । इसी प्रतिक्रांति के लिए भारती माध्यम से प्रारंभिक शिक्षा और अंग्रेजी माध्यम से उच्च शिक्षा का कायाकल्प करने की चेष्टा की गई । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने अंग्रेजी माध्यम को विफल माना और भारती माध्यम को सफल माना किंतु राजनीतिक हवा में सांस लेने के कारण भारती और अंग्रेजी के माध्यम से आर्थिक-सामाजिक विभाजन को कायम रखते हुए एक मानसिक विभाजन का सुझाव भी दे दिया । उन्होंने द्विभाषा फार्मूला दिया : भारती और अंग्रेजी, भावना-विकास का माध्यम

4. उद्धृत : 'आग्ज़िलियरी कमिटी रिपोर्ट', पृ० 15

भारती, विचार-विकास का माध्यम अंग्रेजी । राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजीविद् वर्ग की वैचारिक और सांस्कृतिक आधार पर देश की एकता का संकेत भी कर दिया । व्यक्ति का यह मनोवैज्ञानिक विभाजन और सामाजिक विभाजन एक वर्ग अंग्रेजीविद्, दूसरा अंग्रेजी-विहीन, अस्वाभाविक था ।

जब साइमन कमिशन की नियुक्ति हुई तो कमिशन को राजसीमा और शासन-प्रतिबंधन के अंदर रहते-रहते रिपोर्ट यह करना था कि :

1. शिक्षा की सहायता से भारत की जनता में किस हद तक नागरिक प्रबोध आ पाया है और किस हद तक वे राजनीतिक मामलों पर सही राय बना सकते हैं ।
2. शिक्षा की सहायता से किस हद तक ऐसा दिशा-निदेशक वर्ग तैयार हो गया है या हो रहा है जो राजनीतिक क्षेत्र में जनता का सुप्रेरित और सुबुद्ध नेतृत्व कर सकें और प्रशासन क्षेत्र में स्वतः प्रेरणा और कुशलतापूर्वक निर्णय लेकर काम कर सकें ।[5]

अंग्रेजी शिक्षा का यह राजनीति और प्रशासन संबंधी मूल्यांकन ही था । ऐसे ही नेतावर्ग की कल्पना लार्ड मकाले और लार्ड कर्ज़न ने की थी । इसी राजनीतिक उद्देश्य को सामने रखते हुए कमिशन की शिक्षा संबंधी सहायक समिति ने शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में लिखा कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का मौलिक महत्त्व है क्योंकि राष्ट्र-निर्माण के दुष्कर कार्य का अनिवार्य साधन शिक्षा ही है । इस उद्देश्य को सामने रखकर शिक्षा के लक्ष्य व्यक्त किए गए :

1. ऐसे लोक-समाज का निर्माण करना जो अपने मौलिक नागरिक कर्तव्यों का समझदारी से पालन कर सके । जनता में यह योग्यता होनी चाहिए कि आंख खोलकर अपने प्रतिनिधियों को चुने, कुछ हद तक उन सामाजिक और राजनीतिक प्रोग्रामों को समझे जो चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी उनके सामने रखते हैं । एक और योग्यता, जो दीखने में गौण है पर है अत्यंत महत्त्वपूर्ण, यह है कि जनता यह जाने कि वोट वास्तव में डाला कैसे जाता है ।
2. इस वृहत्समाज में से ही एक छोटे विशेष वर्ग का निर्माण करना जो विधान सभाओं और स्थानीय प्रशासन के लिए ऐसे अफसर दे सके जो समझ, विवेक और ईमानदारी से अपना काम कर सकें ।

कमेटी के विचारानुसार शिक्षा-लक्ष्यपूर्ति के उपाय भी सुझाए गए :

1. अच्छे नागरिक बनाना : यह काम जनता के लिए छोटे स्कूलों को करना चाहिए ।
2. विश्वसनीय और कर्तव्यनिष्ठ प्रतिनिधि और अफसर : इनका निर्माण सेकंडरी स्कूलों, यूनिवर्सिटी और कालेजों को करना चाहिए ।[6]

कमिशन और समिति दोनों के मतानुसार शिक्षा का लक्ष्य रहा नागरिक का निर्माण और

5. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 378
6. 'आग्ज़िलियरी कमिटी रिपोर्ट', पृ० 3

जनसमुदाय के बीच में से ही नेता और प्रशासक दोनों का उदय और उनका निर्माण । कमिशन ने राष्ट्र-निर्माण की ओर भी संकेत किया । जनता, नेता, प्रशासक, शिक्षक सब राष्ट्र के अंग हैं और शिक्षा के द्वारा ही उनका निर्माण हो सकता है और होना चाहिए ।

क्या ऐसा राष्ट्र-निर्माण हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर साइमन कमिशन के संदर्भ में खोजने से पहले यह देखना है कि क्या राष्ट्र मतदाता, नेता और अफसरों से मिलकर ही बनता है ? राष्ट्र एक संपन्न, संपूर्ण, स्वतंत्र सत्ता होती है जिसमें जनसत्ता, राजसत्ता और प्रशासन सत्ता का संघटन होता है और जिसका संचालन अंदर से होता है, बाहर से नहीं । राजसत्ता और प्रशासन सत्ता भी राष्ट्र के अंग होते हैं और राष्ट्रसत्ता के अंतर्गत काम करते हैं । भारत में साइमन कमिशन ने जिस राष्ट्र की कल्पना की थी, राजसत्ता उसका अंग नहीं उसकी मालिक थी अर्थात् राष्ट्र को राजसत्ता का अंग माना गया था । राज प्रशासन और जनसत्ता का संघटन संपन्न ही नहीं हुआ । अतः ब्रिटिश काल में जिस राष्ट्र की कल्पना की गई वह केवल अपंग ही था । उसी अपंग राष्ट्र को संपूर्ण और संपन्न करने के लिए अंदर से एक ओर जहां सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक कायाकल्प के प्रयास लिए गए, दूसरी ओर स्वतंत्रता के लिए आंदोलन किया गया । राष्ट्र के परतंत्र होने की अवस्था में शिक्षा से केवल वही और उतनी ही मांग की गई जितनी कि औपनिवेशिक व्यवस्थिति को बनाए रखने के लिए पर्याप्त थी । स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ जब राजकीय शिक्षा पद्धति के विरुद्ध आवाज उठाई गई और उसका बहिष्कार भी किया गया तथा उसी शिक्षा पद्धति के स्नातकों द्वारा सत्ता और शिक्षा दोनों का विरोध किया गया तो सरकार ने क्षोभ प्रकट किया । इसी क्षोभ के फलस्वरूप जो भी सरकारी स्तर पर सुधार-कार्य किए गए उन्हीं के अनुरूप साइमन कमिशन की नियुक्ति हुई थी । शिक्षा से सुबुद्ध मतदाताओं और स्वतंत्र प्रशासकों की मांग ही नहीं की गई थी तो उनका निर्माण कहां से होता ?

कमिशन ने राजशिक्षा पद्धति से जो राजनीतिक मांग की सो पूरी होती नहीं दीखी । गांव में रहने वाले भोले लोग तो घास खोद रहे थे । जिनसे प्रेरणा और नेतृत्व की अपेक्षा थी वे दफ्तरों के दरवाजे खटखटा रहे थे । जनता का पथ-प्रदर्शन करने वाला कोई था ही नहीं और जो कर भी कर रहे थे वे और उनका नेतृत्व दोनों ही अमान्य थे क्योंकि वे तो सत्ता के विरुद्ध काम कर रहे थे । कमिशन ने यह राय दी कि जनता के लिए अभी तो बहुत कुछ करने की आवश्यकता है । उनके जीवन-स्तर को ऊंचा करना, उन्हें नागरिकता के दायित्व के लिए तैयार करना, यह काम तो अभी किया जाना है । उनका शिक्षा-स्तर इतना नीचा था कि उनके बीच में कोई सतत और सार्थक संगठन या व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी । जो तथाकथित नेता उनके लिए बोलते भी थे वे साधारणतः उनके बीच में से निकले ही नहीं थे । कमिशन के मत में जनता प्रबुद्ध नहीं थी और नेता विश्वसनीय नहीं थे । कमिशन ने यह देखा कि यूनिवर्सिटी स्नातकों की तो केवल एक ही आकांक्षा थी : गांव छोड़कर शहर चले जाएं । यूनिवर्सिटी शिक्षा के द्वारा देश के नौजवान अधिकाधिक संख्या में अपने को राजनीति, सरकारी नौकरी या ऊंचे पेशे अथवा व्यवसाय के लिए तैयार करते और अपनी सेवा के लिए शहर की ओर प्रस्थान करते । गांव के

जीवन के लिए इनके मन में कोई रुचि या आदर नहीं रह गया था ।[7] कुल मिलाकर भारत दो भिन्न समाजों में बंटने लगा था : एक ओर तो अशिक्षित और साधनहीन लोग थे जो गांव में रहते थे और मेहनत-मजदूरी का जो भी अवसर मिल पाता उसी से पेट भरने का प्रयास करते थे । और दूसरी ओर इन्हीं में से निकलकर राजकीय शिक्षा के सहारे नौकरी की तलाश में शहर की ओर भटकने वाले । दोनों का कोई तालमेल था ही नहीं । एक सुसंगठित सामूहिक समाज का निर्माण—शिक्षा का यह लक्ष्य तो पूरा हुआ नहीं था । राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य सभी पीछे रह गए ।

सामूहिक लक्ष्य के साथ-साथ शिक्षा का एक व्यक्तिगत लक्ष्य भी था : व्यक्ति का मानसिक विकास अर्थात् साक्षरता और स्वाध्याय-प्रवचन के माध्यम से मनुष्य का बौद्धिक, भावनात्मक और सांस्कृतिक विकास । इतना भी पूरा हो पाया कि नहीं !

सहायक समिति के अनुसार ग्रामीण शिक्षा की स्थिति अत्यंत निराशाजनक थी । 1854 के शिक्षा भारती परिपत्र के बाद एक बार तो ऐसा लगा था कि सरकार ग्रामीण शिक्षा के लिए कृतसंकल्प है । 1882 में ग्रामीण शिक्षा का मूल्यांकन किया गया और लार्ड कर्ज़न ने तो मानो किसान मजदूर सेवा का बीड़ा ही उठा लिया था । वास्तव में 100 वर्ष पूर्व ही 19वीं शती के प्रारंभ में जब से सरकारी अफसरों की रिपोर्ट मिली थी तभी से ग्रामीण शिक्षा की ओर ध्यान देने का वचन बार-बार दिया गया था । सवा सौ वर्ष के सरकारी काम के बाद सहायक समिति को जो स्थिति देखने को मिली वह यह थी कि यूनिवर्सिटी और स्कूलों की तो बात ही छोड़िए, ठेठ ग्रामीण शिक्षा के मतलब का भी कोई साहित्य जनभाषा में नाममात्र को नहीं था । समिति ने यह साफ शब्दों में लिखा कि आज की ग्रामीण स्थिति यह है कि भारतीय भाषा में कोई साहित्य उचित स्तर का है ही नहीं । परिणाम यह है कि गांव का बच्चा जब स्कूल छोड़ता है तो थोड़े दिन में ही वह पूर्ववर्ती निरक्षर अवस्था में वापस पहुंच जाता है । जो लोग कुछ पढ़-लिख गए हैं वे भी साहित्याभाव में अनपढ़ अवस्था में ही पहुंच जाते हैं ।[8] हाई स्कूल पास विद्यार्थियों की हालत 1839 से ही हम पहले देख चुके हैं । 1854, 1882 और 1902 में उनकी अवस्था वैसी ही रही थी । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने भी वही अवस्था देखी थी । साइमन कमिशन ने सरकारी शिक्षा पद्धति के लिए ब्रिटेन को साधुवाद दिया था और यह कहा था कि ब्रिटेन ने भारत की शिक्षा में जो सबसे बड़ा योगदान दिया था वह हाई स्कूल के रूप में था जहां अंग्रेजी का शिक्षण होता था ।[9] तथापि सहायक समिति ने केवल यह पाया कि हाई स्कूल पास विद्यार्थी अधिकतर ऐसे थे जो यूनिवर्सिटी में जाने योग्य नहीं थे ।[10]

ग्रेज्युएट्स का तो बुरा हाल देखा गया । साइमन कमिशन को दुखपूर्वक यह कहना पड़ा

7. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 22
8. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 345
9. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 380
10. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 132

कि कोई हिंदुस्तानी बी०ए० औचित्यपूर्वक यह दावा नहीं कर सकता कि क्योंकि मैंने सरकार से अनुदान-प्राप्त यूनिवर्सिटी में शिक्षा पाई है इस कारण सरकार को मुझे नौकरी देनी चाहिए । किंतु फिर भी स्तर के गिर जाने के कारण ग्रेज्युएट्स की इतनी भीड़ लग गई जिनकी योग्यता बहुत थोड़ी है और जिनके सामने कोई भावी संभावना नहीं है ।[11] स्तर के गिरने के कारणों पर बाद में सर फिलिप हार्टोग ने प्रकाश डाला जो रोचक भी है और दुखद भी । सर फिलिप सहायक समिति के अध्यक्ष थे । 1935 में सर जोजफ् पेन लेक्चर देते समय लंदन इंस्टीट्यूट आफ एज्यूकेशन में उन्होंने कहा : मेरे विचार में समय आ गया है कि जब यह कह देना चाहिए कि भारतीय परीक्षक—सभी नहीं पर अधिकतर—यह समझते हैं कि यूनिवर्सिटी डिग्री योग्यता के प्रमाण-पत्र के रूप में विद्यार्थियों को नहीं दी जाती बल्कि उपहार रूप में दी जाती है और इसलिए नहीं दी जाती कि विद्यार्थी उसके हकदार हैं बल्कि सद्भावनापूर्वक मात्र दान रूप में दी जाती है । इस दानभाव पर परीक्षक का कुछ खर्च तो होता नहीं, केवल दया की वर्षा होती है । बोतल पर लेबल कुछ और है अंदर कुछ और ।[12] डिग्री मात्र लेबल बनकर रह गई, डिग्रीमान खाली का खाली रह गया ।

साइमन कमिशन ने कहा था कि देश की सामाजिक और आर्थिक परंपराओं की अवहेलना किए जाने पर प्रकृति प्रतिशोध लेती है ।[13] वह प्रतिशोध पूरा हुआ । स्वयं शिक्षा प्रवर्तकों ने ऐसा माना । लार्ड वैवल जब भारत से वापस जाने लगे तो उन्होंने सम्राट को लिखा था : हमने सबसे बुरा काम शिक्षा के क्षेत्र में किया है । हमने केवल माइंड के लिए मात्र सूचनार्थक शिक्षा दी है, चरित्र-निर्माण के लिए नहीं । परिणाम यह है कि एक साधारण भारतीय नौजवान के पास न चरित्र है न अनुशासन । यदि भारत कभी राष्ट्र बना तो उसे अनुशासन और चरित्र दोनों जुटाने पड़ेंगे ।[14] जो कुछ भी किया गया था सब बेकार हो गया । शब्दज्ञान, तोता रटंत, छिलका-फरोशी । चरित्र-निर्माण और अनुशासन की दिशा में शिक्षा कुछ काम नहीं कर पाई ।

लार्ड वैवल ने जब माइंड की शिक्षा की चर्चा की तो उसका अर्थ वह मानसिक या बौद्धिक विकास नहीं था जिसकी चर्चा कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने की थी । यह माइंड की शिक्षा वैसी ही थी जिसे साइमन कमिशन ने 'इनफरमेशन' कहा था । कमिशन ने जब शिक्षा पद्धति का सर्वेक्षण किया तो उन्हें निराशा हुई । उन्होंने वास्तविक शिक्षा और मात्र 'इनफरमेशन' संचार के अंतर को समझा । उन्होंने कहा कि स्कूल या कालेज वह संस्थान है जहां वास्तविक शिक्षा और सामाजिक ट्रेनिंग दी जाती है न कि मात्र रटंत योग्य 'इनफरमेशन' का संचार किया जाता है, ऐसी 'इनफरमेशन' जिसे विद्यार्थी बिना समझे परीक्षा में ज्यों का त्यों उतार दें ।[15] वास्तविक शिक्षा कैसे हो, यह समस्या बनी ही रही । कमिशन के मतानुसार वास्तविक शिक्षा केवल उसी भाषा के

11. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 392
12. 'सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एज्यूकेशन', पृ० 67
13. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 392
14. 'टाइम्स आफ इंडिया' (दिल्ली, 26-9-80), पृ० 5
15. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 389

माध्यम से हो सकती थी जो बच्चे के मन में शब्द और अर्थ के तादात्म्य को बिठा कर विचार अथवा वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति के अंतर को समाप्त कर दे । कहने का अर्थ यह था कि शिक्षा या तो बच्चे की मातृभाषा में होनी चाहिए थी और यदि अंग्रेजी में होनी थी तो अंग्रेजी का इतना अभ्यास होना चाहिए था कि अंग्रेजी बच्चों के मन की गहराइयों में उतरकर उनके विचार और भावना की भाषा बन जाती । ऐसा तो हुआ ही नहीं था । जब से अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ हुआ था विद्यार्थियों को तोता रटंत से ही फुरसत नहीं मिल पाती थी ।

शिक्षा और माध्यम संबंधी ये सब बातें कमिशन और सहायक समिति के मन में बैठ गई थीं । सर फिलिप हार्टोग ने यह नोट किया था कि अंग्रेजी माध्यम भारत में सामान्यतः आलोचना का विषय रहा था । उन्होंने स्वयं यह माना और उनके मित्रों ने यह माना कि अंग्रेजी माध्यम विद्यार्थियों के मन और बुद्धि के रास्ते में बहुत बड़ा व्यवधान बन गया था । उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के विचारों का भी अध्ययन किया था और वे कमिशन और उसके बहुत सारे मतदाताओं से सहमत हुए थे कि अंग्रेजी माध्यम भारतीय विद्यार्थी के मानसिक विकास को कुंठित कर रहा था । उन्होंने भारतीय मनस् की प्रशंसा भी की । उन्होंने यह कहा कि भारत का साधारण और सामान्य बौद्धिक स्तर इंग्लैंड के सामान्य बौद्धिक स्तर से किसी हालत में भी कम नहीं है, और यही नहीं, उसमें कोई न कोई अद्भुत शक्ति भी अवश्य है क्योंकि वह अंग्रेजी भाषा के व्यवधान को किसी न किसी तरह पार तो कर ही गया ।[16] यह बात अपवाद रूप में ठीक थी । सामान्य बात तो यही है कि अंग्रेजी माध्यम शिक्षा के रास्ते का पत्थर ही बना रहा था जिसके कारण सर फिलिप के अपने ही शब्दों में डिग्री-लेबल और शिक्षा-वस्तु एक-दूसरे के अनुरूप नहीं बन पाए थे । 1835 में अंग्रेजी शिक्षा लागू की गई थी । पूरे सौ वर्ष के पश्चात् 1935 में यह कहने का समय आया कि यह सारा प्रयास व्यर्थ ही गया ।

कोई आशा ? नई योजना ? सहायक समिति ने यह सुझाव दिया कि शिक्षा की व्यवस्था को बदलना पड़ेगा । शिक्षा व्यवस्था का निर्माण-कार्य दुष्कर, श्रमसाध्य और समयशील है । यदि उसका पुनर्निर्माण करना है तो बुनियाद ही नए सिरे से रखनी पड़ेगी और मजबूत बनानी होगी । नए भवन के स्रष्टा, निर्माता और शिल्पी के कला-कौशल और परिश्रम की कड़ी परीक्षा होगी । आवश्यक क्या है, भारत में यह समझने-सोचने की इच्छा तो है, सब जगह नहीं तो भी पर्याप्त मात्रा में अवश्य है, और वही यदि सतत और स्थायी काम में परिणत हो सके तो भविष्य आशाजनक हो सकता है ।[17]

आमूलचूल परिवर्तन । बुनियाद भी फिर से रखनी पड़ेगी, गहरी, पक्की, मानो पुरानी को उखाड़कर फेंकना पड़ेगा । ये कौन थे, जिनसे समिति ने पुनर्निर्माण की आशा की थी ? यदि ऐसे लोग थे तो वे ही थे जो राजसरस्वती का वास्तविक वरदान और अंग्रेजी पद्धति की वास्तविक उपलब्धि थे । ऐसे लोग थे और ये थे अंग्रेजी संस्कृति में ढले हुए हिंदू, अंग्रेजीविद् और अंग्रेज-

16. 'सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एज्यूकेशन', पृ० 43-44
17. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 32

भक्त । उनके विषय में कमिशन ने यह लिखा : ये शुद्ध पश्चिम वर्ण हिंदू सांसारिक विषयों से दूर रहने वाले चिंतनशील भक्त से या शिव और काली मंदिर में लगी भक्तिभावोन्मत्त भीड़ से पूर्णतया भिन्न हों तो हों, किंतु ये ही शिक्षित वर्ग भारतीय जीवन की एक विलक्षण विशेषता हैं । यह वह वर्ग है जो विदेशी भाषा (अंग्रेजी) में सोचता है और उसी के माध्यम से काम करता है । इसने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पश्चिमी सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांतों और परंपराओं को अपनाया है और फिर भी भारत के उस विशाल जनसमुदाय के साथ अपने को एक समझता है जो कि भारत की प्राचीनतम परंपरा में हार्दिक विश्वास रखता है ।[18]

यह वर्ग वही था जिसकी कल्पना लार्ड मकाले ने की थी—ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण से हिंदुस्तानी हो, पर आचार-विचार, आहार-व्यवहार, नैतिक और सांस्कृतिक मान्यताओं से अंग्रेज हों । कल्पना यह की गई थी कि यदि भारत कभी स्वतंत्र हुआ तो ये ही लोग राजसत्ता के उत्तराधिकारी होंगे । यदि भारत की शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन होना था तो उस परिवर्तन की आशा केवल इन्हीं लोगों से की जा सकती थी । यदि यही वर्ग भारत का भावी कर्णधार वर्ग था तो केवल एक प्रश्न अत्यंतावश्यक है जिसमें भावी आशा एवं संदेह दोनों ही निहित हैं : जनता के साथ एक होना और अपने को उनके साथ एक समझना ये दो भिन्न बातें हैं या एक अभिन्न सत्य ? क्या जनता के साथ एकता के लिए संवेदना और भावसमता आवश्यक है अथवा बौद्धिक अनुवेदना ही काफी है ?

18. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 23-24

25
नया सवेरा

जब 1947 में नए भारत का उदय हुआ तो शिक्षा, भाषा, सभ्यता, संस्कृति सब एक नए मोड़ पर थे।

भाषा आत्मा की आवाज है, संस्कृति का संगीत है, सभ्यता का मुंह बोलता रूप है। यदि भाषा को बदल दिया जाए तो सभ्यता, संस्कृति, आत्मा सब बदलने लगते हैं। साथ-साथ यह भी सच है कि यदि सभ्यता और संस्कृति बदल जाएं तो भाषा भी अपने-आप बदलने लगती है। चार्ल्स ग्रांट और उनके मित्रों ने सपना देखा था कि भारत का धर्म, संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा, भाषा सब बदल जाएं। मकाले और उनके साथियों ने परिवर्तन की प्रक्रिया ही बदल दी। उन्होंने धर्म-परिवर्तन के स्थान पर भाषा-परिवर्तन और शिक्षा-परिवर्तन की नीति अपनाई। भारत में कुछ धर्म-परिवर्तन हुआ और परिवर्तन के साथ लोग अपनी परंपरा और जड़ों से कटने लगे। उनके प्रेरणा-स्रोत भी बदलने लगे। किंतु धर्म-परिवर्तन के स्थान पर शिक्षा और भाषा-परिवर्तन ने अधिक काम किया।

एक दिन दिल्ली दूरदर्शन पर एक हरयाणा-विषयक नाटक देखा। एक प्रौढ़ पात्र ने कहा : "भई सुण्या है कि फलाणे का हुक्का-पाणी बंद कर दिया गया है। और हुक्का-पाणी बंद का मतलब है सोसल बाईकाट।" ठेठ हरयाणे की भाषा भी अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से समझाई जा रही है। एक देवी जी ने दूरदर्शन के सवेरे के प्रोग्राम के बारे में शिकायत करते हुए चर्चा की कि सवेरे का प्रोग्राम द्विभाषी है—हिंदी और अंग्रेजी में। किंतु अधिकतर हिंदी ही चलती है और अंग्रेजी की हानि होती है। ग्रांट के सपने तो अधूरे रह गए किंतु मकाले की योजना पूरी हो गई। इन वार्ताओं से यह स्पष्ट है।

ऐसा तो नहीं हुआ कि समूचे भारत की भाषा, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति बदल गई हो। ऐसी न तो आशा की गई और न योजना ही बनाई गई थी। किंतु एक योजना पूरी हो गई—सारे देश का सामाजिक और मानसिक विभाजन हो गया। एक ओर तो वे करोड़ों गरीब निरक्षर अथवा मात्र साक्षर जनसमुदाय के लोग जो पढ़े-लिखे लोगों की ओर आंखें फाड़कर देखते थे और अपने चेहरे पर छाई भय की स्याही को छिपा नहीं पा रहे थे; दूसरी ओर वे मुट्ठी-भर अंग्रेजीदां अफसर और उनके आसपास का रंगमंडल जो इस विशाल समुदाय को तो पहचानने से परहेज करते थे किंतु विदेशियों को झुककर सलाम करते थे। मकाले महोदय को माल खरीदने वाले और सलाम झुकाने वाले दोनों मिल गए। हां, एक तरह से मकाले महोदय फेल हो गए,

लार्ड कर्ज़न ने भी ऐसा ही समझा था और कहा भी था। अंग्रेजी के माध्यम से ही शिक्षा-प्राप्त कुछ नौजवान ऐसे खड़े हो गए जिन्होंने अंग्रेजी भाषा, विचारधारा और शिष्टाचार को तो अपनाया किंतु सलाम झुकाने से इनकार कर दिया। इन्होंने विदेशी सत्ता के विरुद्ध एक आंदोलन खड़ा कर दिया। इन्हीं में से एक थे गांधी जी और दूसरे थे जवाहरलाल नेहरू। कितने ही और नौजवान भी थे पर इन दो की ही चर्चा करेंगे। गांधी जी की अपनी भाषा, बुनियाद और पतवार देसी और मजबूत थी; नेहरू जी की भाषा, बुनियाद और पतवार तीनों अंग्रेजी। अंग्रेजी के प्रकाश में ही उन्होंने भारत की खोज की थी। अंग्रेजी तूफान के अंदर गांधी जी भाषा-सभ्यता-संस्कृतिनिष्ठ एकासन बैठे रहे किंतु नेहरू जी को उस तूफान से जूझना पड़ा और हर समय अपनी पतवार को बुद्धिबल से संभाले रखना पड़ा। इसी बुनियादी अंतर के कारण गांधी जी ने हिंदू धर्म को सेक्यूलर रूप देकर धर्म-समन्वय कर लिया किंतु नेहरू जी ने उसी सेक्यूलरिज़्म को धर्मनिरपेक्ष मान लिया। एक-दूसरे में विश्वास करते हुए भी एक धर्मनिष्ठ और दूसरे धर्मनिरपेक्ष।

नेहरू जी लिखते हैं : "सचमुच मैं कई बार आश्चर्यपूर्वक सोचता हूं कि मैं क्या हूं, कैसा हूं और किस जैसा हूं। कई बार मुझे लगता है कि हालांकि बहुत सारे लोग मेरे प्रति गहरा प्रेम और सद्भावना रखते हैं तथापि मैं किसी जैसा नहीं हूं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा मिश्रण हूं। मैं हर जगह अलग हूं और कोई जगह मेरी नहीं है। शायद मेरे विचार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्वी इतना नहीं है जितना पश्चिमी है। तरह-तरह से भारत मेरे अंदर रम गया है, बिल्कुल वैसे ही जैसे वह अपने सभी बच्चों के मन में समाहित हो गया है। शायद मेरे अचेतन मानस् के अंदर सैकड़ों पीढ़ियों से कहीं न कहीं ब्राह्मण संस्कार छिपे पड़े हैं। मैं अपने उस अतीत से छूट नहीं सकता और जैसे मेरा अतीत मेरे अंदर निहित है वैसे ही मेरी नवीन (पश्चिमी) उपलब्धियां भी मेरे साथ हैं। ये दोनों मेरे मानस् के अंग हैं और पूर्व और पश्चिम दोनों जगह मेरी सहायता करते हैं किंतु फिर भी वे मेरे अंदर एक आत्मिक अकेलापन-सा उत्पन्न करते हैं। वह आत्मिक अकेलापन मुझे कचोटता है और न केवल सामाजिक कार्यों में ही बल्कि समस्त जीवन के क्षण-क्षण में ऐसा ही होता है। मैं पश्चिम में होता हूं तो कोई मुझे अपना नहीं दीखता, मैं वहां का हो नहीं सकता। किंतु कभी-कभी अपने देश में भी ऐसा लगता है कि यहां मेरा कुछ नहीं है और मुझे देश-निकाला मिल गया है।"[1]

नेहरू जी भारत में रहते हुए भी अपनी जड़ों से कटने लगे। वे भारत के जनमानस् के रोमांचकारी नेता तो बने किंतु अपनी पतवार के कारण। उनकी बुद्धि इतनी तीव्र न होती तो हो सकता है उनका मन कभी का टूट गया होता। उनका मनोबल उनकी बुद्धि और पतवार के कारण बना रहा अन्यथा शिक्षा तो अपना काम कर गई थी।

टूटते सुर संगीत नहीं बनते, किंतु वे भी अभिव्यक्ति तो हैं ही। आइए, भारतीय कलाकारों की सुनें जो अंग्रेजी में ही सांस लेते हैं, उसी में दम तोड़ते हैं, और टूटे सुरों में ही संगीत की धुन जोड़ते हैं :

1. उद्धृत : आर्थर मौर, 'एन इंडियन हैमलेट', नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, ए बर्थडे बुक (14-11-49), पृ० 23

प्रीतीश नंदी लिखते हैं कि अंग्रेजी में लिखने वाला कवि विचित्र परिस्थितियों से उभरा विचित्र प्राणी है । देश की मुख्य धारा से दूर, भारतीय अनुभूति से अनभिज्ञ, जड़ों से कटा, अकेला, सामाजिक त्रिशंकु, ऐसी भाषा में लिखता है जिसे वे भी नहीं समझते जिनके लिए वह लिखता है । फिलिप जॉर्ज के अनुसार विसंगति का कारण यह है कि अंग्रेजी में लिखने वाले ऐसे दर्शन और अनुभूति के आधार पर लिखते हैं जिसका भारतीयता से कोई मेल है ही नहीं ।

देश की परंपरा एवं मुख्य धारा से कटे हुए ये लोग हाथ-पांव मारते, टटोलते, पैसे की झंकार में संगीत का सर्जन करना चाहते हैं । इनका संगीत केवल वैयक्तिक है । अधिक से अधिक ये विक्षिप्त वृत्ति-साहित्य का सर्जन करके अपने आपको हल्का कर लेना चाहते हैं । ये वृत्ति-सरूप तो हैं, वृत्ति-साक्षी नहीं । इनकी आवाज कभी देश की आवाज नहीं बन सकती । नेहरू ने अपने व्यक्तित्व को जनसमुदाय की लहरों के सहारे छोड़कर विदेशी नजरों से भारत की खोज करने की कोशिश की थी और बौद्धिक अनुवेदना के माध्यम से पुरानी जड़ों के साथ संपर्क जोड़ लिया था । स्वतंत्रता साधना के मार्ग से गुजरकर उनकी अकेली आवाज देश की आवाज बन गई और देश की आवाज उनके मन में समाहित हो गई । विक्षिप्त आवाजें अकेली रह जाती हैं ।

स्वतंत्रता के सूर्योदय के साथ नेहरू जी ने स्वयं देश के कर्णधारों के सामने घोषणा की कि देश के इतिहास में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब देश रात के अंधेरे से निकलकर नए सूर्योदय का स्वागत करने के लिए दृढ़संकल्प होकर युग-युगों की नींद से जागता है और युग-युगों से दबी उसकी आत्मा की आवाज बुलंद होती है ।[2] देश की यह आवाज शिक्षा, शासन और विकास तीनों क्षेत्रों में बुलंद होनी चाहिए थी । नेहरू जी को यही आशा थी । देश के नेताओं का यही संकल्प था । यह आवाज केवल अपनी भाषा में ही बुलंद हो सकती थी ।

गांधी जी अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करके भी संस्कार, परंपरा और देश की मुख्य धारा से कटे नहीं । हमें मालूम है कि उनके जीवन में उनकी मां का कितना बड़ा योगदान था । विलायत की चकाचौंध भी मां से प्राप्त उनके मानसिक संतुलन को विचलित नहीं कर सकी । शायद यही कारण था कि जब वे जीवन के बुनियादी पहलुओं पर सोचते थे तो मां के प्रतीक के माध्यम से सोचते थे । शिक्षा-माध्यम के संबंध में उन्होंने प्रकृति को मां समझकर ही समस्या का समाधान सुझाया । उन्होंने कहा कि जिस प्रकार मां के दूध से बच्चे के शरीर का निर्माण होता है उसी प्रकार मातृभाषा के माध्यम से उसके मन और बुद्धि का विकास होता है । शिक्षा का कोई दूसरा माध्यम कैसे हो सकता है ? यही तो प्रकृति का विधान है ।[3] अंग्रेजी राज में भारतीय शिक्षा क्षेत्र में अंग्रेजी माध्यम को लादा गया । गांधी जी को उसे देखकर बड़ा क्षोभ होता था और वे कहा करते थे कि विदेशी राज के दुष्परिणामों में से अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम सबसे भयंकर अभिशाप है और इतिहास इस पाप का सदा के लिए साक्षी रहेगा ।[4] गांधी जी ने स्वतंत्रता आंदोलन के

2. उद्धृत : आर्थर मौर, 'एन इंडियन हैमलेट', नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, ए बर्थडे बुक (14-11-49), पृ० 292
3. उद्धृत : श्रीमन्नारायण, 'ऑन एज्यूकेशन' (दिल्ली, 1962), पृ० 36
4. उद्धृत : र० क० प्रभु, 'सम इविल रौट बाइ द इंग्लिश मीडियम' (अहमदाबाद, नवजीवन, 1958), पृ० 27

साथ-साथ शासन और शिक्षा में मातृभाषा के लिए भी अभियान चलाया और 1935 के भारत सरकार के विधान के अनुसार जब 1937 में कांग्रेस ने सरकार को सहयोग दिया तो उसके बाद 30-7-38 को उन्होंने 'हरिजन' में लिखा कि अब तो सुधार के लिए सुअवसर मिल गया है इसलिए कांग्रेसियों को अत्यंत उत्साह के साथ प्रयास करना चाहिए क्योंकि अब और देर नहीं की जा सकती । हमें शिक्षा-माध्यम को तत्काल बदल देना चाहिए । आहिस्ता-आहिस्ता करेंगे, यह बहाना नहीं चलने दिया जाएगा । यदि हम ऐसा कर डालें तो बहुत ही थोड़े समय में पुस्तकें और अध्यापक दोनों तैयार मिलेंगे । यदि हम वास्तव में कुछ कर गुजरने पर तुल जाएं तो कर ही डालेंगे और तब यह महसूस करेंगे कि शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति की वास्तविक और आवश्यक उपलब्धियों के लिए विदेशी माध्यम के पचड़े में फंसकर हमें देश की शक्ति का इतना दुखद ह्रास करने का कोई अधिकार नहीं था । गांधी जी का विश्वास था कि हम एक वर्ष के अंदर ही सारा परिवर्तन कर डालेंगे । गांधी जी एक बात अवश्य मानते थे : सफलता के लिए आवश्यक है कि क्षेत्रीय स्तर पर सरकारी कार्यालयों और अदालतों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग हो । केंद्रीय स्तर पर केंद्रीय भाषा का प्रयोग हो ।

गांधी जी ने शिक्षा और प्रशासन को जोड़ा, उनके माध्यम को भी जोड़ा । 1835 से ही तो शिक्षा, प्रशासन और माध्यम जोड़े गए थे । स्वतंत्र एवं परतंत्र यथार्थ तो यही था । गांधी जी राष्ट्रीय अर्थात् केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषा के माध्यम के विषय में भी यथार्थवादी थे । इसीलिए उन्होंने प्रांतीय भाषाओं के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया था । उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय भाषा बहुजन-भाषा होनी चाहिए, सीखने में सुगम हो ताकि सरकारी अफसर और देश की जनता उसे आसानी से सीख सकें और सारे देश में धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र में संचार और संवाद का माध्यम बन सकने के लिए सक्षम हो । उनके विचारानुसार हिंदी ही एक ऐसी भाषा थी जो इन अपेक्षाओं के आधार पर राष्ट्रीय भाषा बनने के योग्य थी । इन्हीं अपेक्षाओं के आधार पर अंग्रेजी नितांत अयोग्य थी । इसी कारण वे अंग्रेजी को देश के लिए एक अभिशाप के रूप में देखते थे ।[5] केंद्रीय और प्रांतीय भाषाओं के महत्त्व को देखते हुए ही उन्होंने कांग्रेस से अनुरोध किया था कि संस्था का काम भारतीय भाषाओं के माध्यम से होना चाहिए । 1925 के कानपुर अधिवेशन में कांग्रेस विधान में एक संशोधन किया गया था जिसके अनुसार यह निर्णय लिया गया था कि कांग्रेस की अखिल भारतीय कार्यवाही हिंदुस्तानी में चलाई जाएगी । यदि कोई सदस्य हिंदुस्तानी न बोल सके तो प्रांतीय भाषा या अंग्रेजी का प्रयोग कर ले । प्रांतीय कांग्रेस की कार्यवाही सामान्यतः प्रांतीय भाषा में चलाई जाए अथवा हिंदुस्तानी में ।[6]

गांधी जी अंग्रेजी से घृणा नहीं करते थे । वास्तव में वे अंग्रेजी भाषा से प्यार करते थे, जैसे किसी भी समृद्ध भाषा से कोई भी बुद्धिजीवी करेगा । वे कहा करते थे कि मैं अपने घर की किलाबंदी नहीं करना चाहता, और न ही अपनी खिड़कियों को बंद रखना चाहता हूं । यदि

5. मोहनदास करमचंद गांधी, 'हिंट्स आन नेशनल एज्यूकेशन' (अहमदाबाद, नवजीवन, 1956), पृ० 3-4
6. उद्धृत : एम०पी० देसाई, 'द हिन्दी प्रचार मूवमेंट', पृ० 14

विदेशी संस्कृति और भाषाएं मेरे घर को सुगंधित करें तो मैं विदेशी समीर के लिए अपने घर की खिड़कियां खोल दूंगा किंतु यदि वे तूफान बनकर मेरे घर को उखाड़ना चाहें तो मैं चट्टान की तरह खड़ा हो जाऊंगा ।[7] गांधी जी अंग्रेजी को एक अंतःसांस्कृतिक और अंतर्भाषायी मित्र के रूप में मानने को तैयार थे किंतु अपनी भाषा की अपेक्षा उसके प्रभुत्व को मानने से इनकार करते थे । वे सुगंध-प्रेमी तो थे किंतु घुटन को चुनौती देते थे । उन्होंने इसी कारण अंग्रेजी की घुटन को चुनौती दी और भारत के बुद्धिजीवियों को भी उनके कर्तव्य की याद दिलाई । कभी-कभी तो वे सुस्त दीर्घसूत्री बुद्धिजीवियों से चिढ़ने लगते थे । उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि स्वातंत्र्योन्मुख नए सवेरे की वेला में हमें तत्काल भाषायी फेरबदल कर देना चाहिए । उन्होंने एक वर्ष में ही सब कुछ कर डालने की आशा और विश्वास व्यक्त किया । उन्होंने तो यह भी कह दिया कि भाषायी परिवर्तन से संबद्ध कोई भी निर्णय लेना शिक्षाविदों का काम नहीं है । वे इस बात का निर्णय नहीं ले सकते कि देश के बच्चों को अमुक भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए । गांधी जी के मतानुसार शिक्षा-माध्यम का निर्णय करना तो समूचे देश का काम है । शिक्षाविदों का यह काम भी नहीं है कि वे यह निर्णय करें कि देश के बच्चों को कौन-कौन से विषय पढ़ाए जाने चाहिए । यह निर्णय भी देश की आवश्यकताओं के अनुसार समूचे देश को ही करना चाहिए । शिक्षक और शिक्षाविदों का काम यह है कि वे देश की इच्छाओं और निर्णयों को दृढ़ संकल्प होकर पूर्ण रूप में कार्यान्वित करें और सफल बनाएं । गांधी जी का मत तो यह था कि देश के स्वतंत्र होने पर माध्यम का निर्णय करके इस काम को निपटा दिया जाएगा और शिक्षाविद् पाठ्यक्रम और पुस्तकें बनाकर तैयार कर देंगे । गांधी जी इस काम में ढील बिल्कुल नहीं चाहते थे । न ही वे यह चाहते थे कि इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ की जाए । कभी-कभी उन्हें लगता था कि खिलवाड़ होगी और उसके लिए शिक्षित वर्ग ही जिम्मेदार होगा ('हरिजन', 9-7-1938) । इस संदर्भ में हमें डॉ० राममनोहर लोहिया की बात याद आती है । वे कहा करते थे कि पढ़े-लिखे लोग काम नहीं करते, वे काम तब करेंगे जब अनपढ़ लोग उनके सिर पर चढ़कर उनसे काम करवाएंगे ।[8]

गांधी जी के शब्दों से एवं लोहिया जी की फटकार से शिक्षित वर्ग नाराज हो सकता है क्योंकि उनके आत्मसम्मान को चोट लग सकती है और शिक्षित वर्ग के पास सिवाय आत्मसम्मान के कोई और धन तो होता नहीं । फिर भी हमें गांधी जी तथा लोहिया जी की बात को समझना होगा । गांधी जी ने कहा : "माध्यम का निर्णय समूचा देश करेगा, केवल शिक्षाविद् नहीं । हमें यह समझना पड़ेगा कि शिक्षाविद् समूचे देश से ऊपर तो नहीं । वे समूचे समाज का अंग हैं । वह अंग महत्त्वपूर्ण अंग है किंतु फिर भी समूचे समाज का विकल्प नहीं है ।" खेद यह है कि वे कभी-कभी अपने आपको समस्त समाज का प्रतिनिधि ही नहीं पूर्ण विकल्प समझने लगते हैं जैसा कि हम पहले कह चुके हैं । समस्त समाज और समूचे देश की समस्याएं और

7. उद्धृत : श्रीमन्नारायण, 'ऑन एज्यूकेशन' (दिल्ली, 1962), पृ० 36
8. 'मैनकाइंड' (दिसंबर, 1959), पृ० 15-28

आवश्यकताएं और मैं तो कहूंगा कि दिशाएं भी मात्र शिक्षित वर्ग की आवश्यकताओं, समस्याओं और दिशाओं से भिन्न हो सकती हैं और हैं भी । उदाहरणार्थ, समूचे समाज की आवश्यकता होगी कि प्रारंभिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए और उसी पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए । किंतु शिक्षित वर्ग की आवश्यकता हो सकती है कि विश्वविद्यालय स्तर की उच्च शिक्षा पर जोर दिया जाए और उसी पर अधिक व्यय किया जाए । शिक्षित समाज के पास अंग्रेजी माध्यम की उपलब्धि है ही और उसी माध्यम से सत्ता भी है, तो भारतीय भाषाओं पर समय, शक्ति और पैसा बर्बाद किए बिना अंग्रेजी जैसे संपन्न माध्यम से ही शिक्षा क्यों न दी जाए ? साधारण समाज की आवश्यकता हो सकती है कि मात्र माध्यम भाषा पर अधिकतर समयादि बर्बाद करने की बजाय अपनी भाषाओं को ही क्यों न संपन्न बनाया जाए और वास्तविक विषयों के अध्ययन पर समय, शक्ति और पैसा खर्च करके इनका सदुपयोग क्यों न किया जाए ? इसी कारण गांधी जी ने सोचा कि माध्यम का निर्णय समूचा समाज अर्थात् देश करे न कि कोई वर्ग-विशेष, और उनका संकेत शिक्षित वर्ग की ओर था । जब कोई वर्ग-विशेष कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है तो दूसरे वर्गों की अवहेलना हो सकती है । किंतु जब सभी वर्ग मिलकर समाज या समूचे देश के रूप में निर्णय लेते हैं तो किसी वर्ग विशेष का न तो आधिपत्य रह पाता है और न ही उसकी अवहेलना की संभावना होती है । शिक्षित वर्ग यदि अपने आप अकेला ही निर्णय ले तो मकाले के मानस-पुत्र बनकर भी निर्णय ले सकते हैं । और यदि शिक्षित वर्ग को छोड़कर मात्र अन्य वर्ग निर्णय लेते हैं तो हो सकता है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अंग्रेजी के माध्यम से हमारे शिक्षित वर्ग ने जो उपलब्धियां की हैं उन सभी से अपने को और देश को वंचित कर लें । अतः यह आवश्यक एवं उचित है कि समूचा देश माध्यम के विषय में निर्णय ले और उस निर्णय में भागीदार होने के नाते शिक्षाविदों का यह दायित्व हो कि वे पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकें तैयार करें । क्योंकि निर्णय सारे देश का होगा जिसमें पढ़े-लिखे और अनपढ़ सभी के हित शामिल होंगे, शिक्षित वर्ग अपने दायित्व से खिलवाड़ नहीं कर सकेगा । इसी आशय से डॉ० लोहिया ने कहा था कि पढ़े-लिखे लोग काम तब करेंगे जब अनपढ़ लोग उनकी सवारी करेंगे । हम देख ही चुके हैं कि खिलवाड़ तो 1793 से ही होती रही है और यहं खिलवाड़ करने वाले अनपढ़ तो थे नहीं । और आज तक जो समस्या हल नहीं हो पाई उसके जिम्मेदार भी अनपढ़ लोग नहीं हैं । फिर पढ़े-लिखे लोग काम नहीं कर पाए तो इसका कारण उनके सिवाय और कहां ढूंढ़ा जाए ?

गांधी जी ने शिक्षा-माध्यम के निर्णयार्थ समूचे देश और समाज की बात की । लोहिया जी ने उसी विषय में एक सावधानी और चेतावनी की बात की और वह यह कि किसी देशव्यापी विषय पर पिछड़े वर्गों को नकारा न जाए अन्यथा उनके और देश के हितों की अवहेलना हो जाएगी और यह भी हो सकता है कि काम ही न हो पाए । गांधी जी ने हिंदुस्तानी अर्थात् हिंदी को अखिल भारतीय भाषा माना और साथ ही प्रांतीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को भी स्वाभाविक शिक्षा-माध्यम माना । सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके विचार में शिक्षा के लिए मातृभाषा का

कोई विकल्प नहीं था और माध्यम के रूप में अंग्रेजी तो एक अभिशाप था। हां, अंग्रेजी को वे अमूल्य सहायक भाषा मानते थे।

1938 में ही जहां एक ओर गांधी जी हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के पक्ष में लिख रहे थे, उसी वर्ष कांग्रेस ने भी एक प्रस्ताव पास किया जिसमें अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के विरुद्ध आवाज उठाई गई। प्रस्ताव में कहा गया था कि यह स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति फेल हो चुकी है क्योंकि इसका उद्देश्य रहा है वर्ग-विशेष की शिक्षा, न कि जनता की शिक्षा। यह उद्देश्य अब अतीत की बात हो गई है। अब आवश्यक हो गया है कि हम एक नई राष्ट्रीय नीति अपनाएं जिसका आधार नया हो और जो देशव्यापी हो सके। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि शिक्षा का माध्यम केवल मातृभाषा ही हो सकता है। यह सत्य है और स्वयंसिद्ध है कि जनता में शिक्षा और संस्कृति का प्रचार केवल मातृभाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है।

नेहरू जी इन विचारों से पूर्णरूप से सहमत थे। वे कहा करते थे कि अंग्रेजी राजकाल में शिक्षा के माध्यम से देश में दो नए वर्ग (कास्ट) खड़े कर दिए गए : एक अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित, दूसरा अनपढ़ अथवा जनता। उन्होंने कहा कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि भविष्य में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा हो सकती है। माध्यम तो हिंदी ही होनी चाहिए अथवा कोई क्षेत्रीय भाषा होनी चाहिए। नेहरू जी प्रशासन के क्षेत्र में भी हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के महत्त्व पर बल देते थे। उनका कहना था कि नए भारत में पुराना वर्गवाद नहीं चलेगा। स्वतंत्र भारत में परतंत्र भारत का भाषा वर्गवाद चले, इससे बड़ा देश का दुर्भाग्य क्या हो सकता है ? अखिल भारतीय प्रशासन माध्यम तो केवल हिंदी ही हो सकता है। हां, प्रांतों में प्रांतीय भाषाएं प्रशासन-माध्यम हो सकती हैं। नेहरू जी के विचारानुसार प्रशासन और शिक्षा का माध्यम वह भाषा होनी चाहिए जिसके द्वारा जनता से संपर्क किया जा सके। यहां ब्रिटिश काल और स्वतंत्र भारत में भाषा और संचार के क्षेत्र में एक मुख्य अंतर दिखाई देता है : ब्रिटिश काल में जनता और सरकार के बीच संचार का माध्यम थे सरकारी अफसर जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे सरकार से अंग्रेजी में बात करेंगे और जनता से जनभाषा में। स्वतंत्र भारत में सरकार और सरकारी अफसर व कर्मचारी सभी जनभाषा में बात करेंगे। ब्रिटिश काल में तो जनता सरकार से बात कर ही नहीं सकती थी क्योंकि वह अंग्रेजी नहीं जानती थी और अफसर भी हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में सक्षम होना नहीं चाहते थे। उन्हें जरूरत भी क्या थी ? स्वतंत्र भारत में ऐसा नहीं होगा, यह हमारी नई अपेक्षा थी।

हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के महत्त्व के संबंध में नेहरू जी के विचार साफ थे। वे हिंदी को अंग्रेजी का विकल्प मानते थे और चाहते थे कि उसे अखिल भारतीय संचार-भाषा का स्थान मिले। हिंदी को वे क्षेत्रीय भाषाओं का विकल्प नहीं मानते थे। वे कहते थे कि क्षेत्रीय भाषाओं का अपना महत्त्व है किंतु अखिल भारतीय संपर्क और संचार का एक भारतीय माध्यम तो होना ही चाहिए। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजी ही क्यों न चलती रहे, किंतु स्वतंत्र भारत में ऐसा नहीं होगा। अखिल भारतीय भाषा तो हिंदुस्तानी ही हो सकती है। करीब बारह करोड़ आदमी

(1941 की जनगणना के अनुसार) इसे बोलते हैं और दूसरे कई करोड़ उसे समझते हैं। जो इसे नहीं भी जानते वे इसे आसानी से सीख भी सकते हैं, क्योंकि विदेशी भाषा की अपेक्षा तो हिंदी को जल्दी ही सीखेंगे। कितने ही शब्द ऐसे हैं जो सभी भाषाओं में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भाषाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विचारधारा और भाषायी समताएं एक हैं। अतः यदि किसी को एक भाषा आती है तो दूसरी भाषा सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती। जनता के हित में और उन्हीं के दृष्टिकोण से नेहरू जी हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के पक्षधर थे। अंग्रेजीविद् शासक/प्रशासक तथा हिंदुस्तानी शासित/प्रशासित रूपी वर्गवाद के कारण वे अंग्रेजी के विरोधी थे, कम से कम वे अंग्रेजीवाद के विरोधी तो थे ही।[9]

देश के बड़े-बड़े विचारक, सुधारक और दार्शनिक शिक्षा और संचार के स्वाभाविक माध्यम के पक्षधर थे। रवीन्द्र ठाकुर का कहना था कि संसार के किसी देश में भी विद्यार्थी की अपनी भाषा और शिक्षा माध्यम में इतना अंतर नहीं है जितना भारत में। पाश्चात्य सभ्यता को बीसवीं शती में अपनाने की आवश्यकता और पारंपरिक संस्कृति को सुरक्षित रखने के दृढ़ संकल्प का सराहनीय समन्वय केवल जापान में ही देखने में आया है। प्रारंभ में तो जापान को विदेशी भाषाओं में लिखित पाठ्य-पुस्तकों का सहारा लेना पड़ा था किंतु जापान यह जानता था कि अपनी भाषा में ही ये पुस्तकें उपलब्ध होनी चाहिए। जापान ने एक बात समझ ली थी : शिक्षा किसी वर्ग-विशेष का आभूषण मात्र नहीं है अपितु समस्त जनता की शक्ति और संस्कृति का प्रतीक तथा साधन है। इसलिए जापान चाहता था कि शिक्षा और ज्ञान सारी जनता को अपनी भाषा में उपलब्ध होना चाहिए। जापान ने अपनी भाषा में शिक्षा को अपनाया और उसी माध्यम से सारी जनता को कला तथा विज्ञान का प्रशिक्षण दिया। परिणाम ? जापान सारी दुनिया के राष्ट्रों के बीच अपनी रक्षा कर पाया और अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना पाया। जापान ने भाषा क्षेत्र में कोई कसर उठा नहीं रखी। उसने न पैसे की परवाह की और न वह दुख से घबराया। न वह उस कंजूसी और मूर्खता का शिकार बना जिसका शिकार भारत बना। भारत की गलती ? विदेशी माध्यम को अपनाकर देश की जनता को शिक्षा और ज्ञान से वंचित रखना।[10] रवीन्द्र ठाकुर अंग्रेजी में लिखते तो थे, अंग्रेजी का आदर भी करते थे, पर अपनी भाषा पर तो वे गौरव करते थे। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, तिलक, लाजपतराय सभी तो यह मानते थे कि स्वतंत्र भारत का प्रतीक होगा स्वराज, स्वभाषा, अपनी सभ्यता और संस्कृति।

स्वतंत्रता के इस छोर पर खड़ी कुछ समस्याएं—शिक्षा, भाषा और प्रशासन से संबद्ध—मानो सदियों से इस देश की आत्मा को ललकार रही हों कि उठो और जीने के लिए कुछ करो। हिंदी, हिंदुस्तानी, प्रांतीय भाषाएं, क्षेत्रीय भाषाएं, जो मर्जी हो कहो, जिसे या जिन्हें चाहो चुनो मगर दासता की मानसिकता से छुटकारा पाओ, स्वच्छंद विचार और स्वच्छंद भाषा का प्रयोग करके देश की समूची जनता को साथ लेकर चलो। अंग्रेजी की सेवाएं तो लो पर उसके दास न रहो।

9. 'द क्वेश्चन आफ लैंग्वेज' (अलाहाबाद, 1937), पृ० 4-5
10. उद्धृत : भारत सरकार, 'रिपोर्ट आफ द एज्यूकेशन कमिशन' (1964-66), पृ० 13

अपने स्वयं की वाणी को बुलंद करो । देश की जनता को धोखे में न रखो, उनको साथ लेकर सब मिलकर चलो और स्वयं-निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करो ।

अंग्रेजी माध्यम से देश की जनता की शिक्षा संभव नहीं होगी, यह तथ्य तो डेढ़ सौ वर्ष से मालूम था । पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकें और अध्यापक तैयार करने पड़ेंगे यह भी 1793 से ही मालूम था । शिक्षा और प्रशासन माध्यम के विषय में साथ-साथ सोचना पड़ेगा यह भी 1793 या कम से कम 1835 से तो मालूम था ही । दृढ़ संकल्प के साथ चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा यह गांधी जी ने कह दिया था । विदेशी माध्यम देश का अपमान है, जनमानस् के लिए अभिशाप है और उभरती पीढ़ी के साथ खिलवाड़ है, यह भी सभी जानते थे । माध्यम-परिवर्तन तत्काल ही करना पड़ेगा इस बात से गांधी जी ने देश के शिक्षित समाज को सावधान कर दिया था और राम मनोहर लोहिया ने उनको चेतावनी भी दे दी थी । गुरुकुल कांगड़ी और जामामिलिया जैसी संस्थाओं ने प्रयोग करके यह भी सिद्ध कर दिया था कि विश्वविद्यालय तक की शिक्षा हिंदी तथा उर्दू के माध्यम से हो सकती है । हिंदी और उर्दू मात्र लिपि तथा कुछ शब्दावली को छोड़कर एक ही भाषा तो हैं । गांधी जी हिंदुस्तानी की ओर सशक्त संकेत कर चुके थे । अपेक्षा थी तो केवल संकल्प की और अखिल भारतीय स्तर पर बात करने की । देश का बंटवारा 1947 में राजनीतिक आधार पर हो चुका था और यह चुनौती मिल चुकी थी कि आगे जाति, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र इत्यादि किसी आधार पर भी देश की एकता और अखंडता के रास्ते में कोई बाधा नहीं आने दी जाएगी । इन सब बातों को लेकर देश के कर्णधारों ने विचार करना प्रारंभ किया ।

इसी पृष्ठभूमि को लेकर 1948 में ही स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिए शिक्षण और शिक्षा पद्धति के पुनर्गठन की व्यवस्था करने के लिए डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग बिठाया गया । आयोग ने अपनी स्थिति और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए घोषणा की कि ब्रिटिश कालीन शिक्षा पद्धति भारत की आत्मा, परंपरा और जनता के अनुरूप नहीं है और उसमें आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है । अध्याय 2 के अनुच्छेद 44 में कहा गया कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारत के अतीत की अवहेलना की और कहीं-कहीं तो हमें हमारी जड़ों से ही काट दिया और शिक्षा के आर्थिक और आध्यात्मिक उद्देश्यों के बीच विषमता पैदा कर दी । इन्हीं कारणों से भारत में नई शिक्षा और शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है ।

आयोग ने ब्रिटिश कालीन शिक्षा की एक और त्रुटि को समझा और उसके निराकरण का रास्ता सुझाया : अंग्रेजी शिक्षा थी वर्ग-विशेष के लिए, सबके लिए नहीं । किसको और कैसी शिक्षा मिले यह आज भी विद्यार्थी की अपनी योग्यता पर निर्भर नहीं करता बल्कि उसके परिवार की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करता है । परिणाम यह होता है कि कितने ही होनहार युवक और बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं । नेहरू जी के शब्दों का हवाला देकर आयोग ने शिक्षा के उद्देश्यों और उपलब्धियों की भी कड़ी आलोचना की : हमारे स्नातक शिक्षा प्राप्त करके भी क्या आशा करते है ? मात्र क्लर्क की नौकरी की । इसलिए आयोग ने शिक्षा के बारे में कई महत्त्वपूर्ण बातें कहीं :

1. शिक्षा हमारे देश की आत्मा, परंपरा और आंतरिक अनुभूतियों के अनुरूप हो ।
2. शिक्षा हमारी आज की आवश्यकताओं के अनुरूप हो अर्थात् हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार हमारे कर्तृत्व को जगाने वाली हो ।
3. शिक्षा प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार हो और उसकी अपनी योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार उपलब्ध हो ।

आयोग ने परंपरा की संपुष्टि तो की पर एक चेतावनी तथा सावधानी की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया—क्या यह उचित होगा कि हम अपनी परंपरा या अतीत का अंधानुकरण करें ? नहीं । परंपरा एक सजीव प्रक्रिया है, समय के साथ अपने प्राचीनतम स्वरूप को रखते हुए आगे बढ़ती है और नए रूप धारण करती है । परंपरा सनातन का नित्य नूतन रूपांतर है । यह रूप उसकी वास्तविक आत्मा और सामयिक परिस्थितियों के समन्वय के अनुरूप होता है । जो समाज, राष्ट्र अथवा परंपरा नई हवा में सांस लेना बंद कर देता है, सोचना और काम करना बंद कर देता है, उसका कर्तृत्व घट जाता है और वह समाज मानो निष्प्राण हो जाता है । मध्यकाल में कुछ ऐसा ही हुआ और परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश काल में भारत अपनी परंपराओं से कट गया । आयोग का कहना था कि नई शिक्षा का उद्देश्य होगा भारत की आत्मा को जगाना, उसकी कर्मशक्ति को ललकारना और उसकी भावना को प्रेरित करना । संक्षेप में यह कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भारत के कर्तृत्व को जगाना और उसे मात्र भोक्तृत्व या भाग्यवाद के कीचड़ से निकालना । कर्तृत्व के आधार पर ही आयोग ने अध्याय 2, अनुच्छेद 9 में लिखा कि शिक्षा का उद्देश्य है विकास—वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय । विकास और उन्नति पर्यायवाची हैं अतः शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से आयोग ने इस विकास को दो भागों में बांटा :

1. व्यक्तित्व : क. शारीरिक विकास ।
   ख. सामाजिक उन्नति ।
   ग. आध्यात्मिक उत्थान ।
2. पाठ्य विषय : क. प्रकृति अध्ययन अर्थात् साइंस एवं टेक्नोलजी ।
   ख. समाज अध्ययन अर्थात् अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, सामाजिक मनोविज्ञान, इत्यादि ।
   ग. अध्यात्म विषय अर्थात् धर्म, नैतिक मूल्य, मानविक साहित्य इत्यादि ।

हम यह देख सकते हैं कि नई शिक्षा के ये उद्देश्य और उनकी पूर्ति के लिए उसकी यह रूपरेखा भारत की प्राचीन परंपरा के अनुसार है । यहां तक कि परंपरागत विषयों की गणना भी की है । छांदोग्योपनिषद् 7,1,2 का उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, पित्र्य (पितृकर्म), राशि (गणितशास्त्र), दैव (भाग्यविज्ञान),

निधि (निधिज्ञान), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (तत्त्वविद्या), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या, सर्पदेवजन विद्या, सर्प विद्या, गंधर्व विद्या अर्थात् संगीत। मात्र विद्याओं की चर्चा ही नहीं अपितु विद्या का मूल्यांकन भी किया है : मनुष्य को केवल मंत्रवित् ही नहीं होना चाहिए, उसे आत्मवित् होना चाहिए। वैदिक और अरबी-फारसी परंपरा का समन्वय करते हुए आयोग ने कहा कि मनुष्य के अंदर इरफान और इल्म अर्थात् ज्ञान और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए (यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन रिपोर्ट, I, पृ० 35, 41)।

परंपरा के अनुरूप शिक्षा की रूपरेखा के साथ-साथ माध्यम भाषा का भी महत्त्व है। शिक्षण केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है। शिक्षार्थी और शिक्षा विषय-वस्तु के अनुसार ही शिक्षा-माध्यम होना चाहिए। इसका कारण सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक है। आयोग ने कहा कि भाषा समाज के आत्मा की अभिव्यक्ति है, उसके मानसिक जीवन और चेतना का मूर्त रूप है। यदि हम समाज की भाषा के अंतस्तल में उतर पाएं तो उस समाज के अंतरात्मा को भी पकड़ पाएंगे। खेत में काम करते, घरों को संवारते, नाव खेते, नाचते-गाते किसी भी अवस्था में समाज के नर-नारियों के दिलों की धड़कन, श्वास-प्रश्वास, विचारों का स्फुरण उनकी भाषा के एक-एक शब्द और वाक्य-रचना में ओत-प्रोत होता है। तो शिक्षा-माध्यम ? केवल अपनी भाषा, अपनी परंपरा, सभ्यता और संस्कृति का ध्वनित प्रतिरूप। विदेशी भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाना शिक्षा सिद्धांत के नितांत विरुद्ध है, मानव स्वभाव के विरुद्ध है। (रिपोर्ट, I, पृ० 317)

शिक्षा के संबंध में आयोग के विचारों के अनुसार हम तीन बातों का उल्लेख कर चुके हैं : शिक्षा हमारी परंपरा के अनुरूप हो, हमारी आज की आशाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरा करे और योग्यतानुसार प्रत्येक नागरिक को उपलभ्य हो। ऐसी शिक्षा का माध्यम केवल अपनी भाषा ही हो सकती है, विदेशी भाषा नहीं, यह मनोविज्ञान और शिक्षा-सिद्धांत के अनुसार हम देख चुके हैं। आयोग के विचारानुसार स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं को देखकर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे। हम देख चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य आयोग की दृष्टि में था वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति। वैयक्तिक उन्नति के भी तीन पहलू हम देख चुके हैं अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। शारीरिक उन्नति तो एक क्रियात्मक विषय है और आध्यात्मिक उन्नति हमारे संस्कार, चेतना, चिंतन, इच्छा-शक्ति और भावना के परिष्कार इत्यादि पर निर्भर करती है। यह विषय व्यक्तिगत स्तर पर भी लिया जा सकता है किंतु उसकी अभिव्यक्ति तो सामाजिक क्षेत्र में ही होती है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक स्तर पर ऊंचा है वह सामाजिक स्तर पर भी तो खरा उतरना चाहिए। इसलिए शिक्षा-माध्यम का सामाजिक शिक्षा के स्तर पर भी तो मूल्यांकन होना चाहिए।

आयोग ने भारत के नए विधान में व्यक्त मूल्यों के आधार पर शिक्षा के सामाजिक संदर्भ की संरचना की। वह संरचना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। रिपोर्ट के दूसरे अध्याय में आयोग ने कहा कि हमारे समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग—अंग ही नहीं उसकी आत्मा—है जनतंत्र, जिसके अंदर प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना मिलनी चाहिए। बंधुत्व न

केवल राष्ट्रीय हो अपितु अंतर्राष्ट्रीय भी हो। ये सभी मूल्य प्रत्येक व्यक्ति को न केवल मिलने चाहिए बल्कि उसे दूसरों को देने भी चाहिए। ये सभी मूल्य प्रत्येक नागरिक के जन्मसिद्ध अधिकार भी हैं और प्रत्येक का जन्मसिद्ध/समाजसिद्ध दायित्व भी है। ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति को अपने अधिकार और दायित्व की चेतना दे वह केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकती है। विदेशी भाषा के माध्यम से अधिकारों की चेतना तो बौद्धिक स्तर पर हो सकती है किंतु दायित्व की चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि दायित्व की चेतना तो बुद्धि के स्तर पर होने के अतिरिक्त भावना के स्तर पर भी होनी चाहिए। यदि भावना के स्तर पर चेतना नहीं होगी तो सामाजिक रूप से मनुष्य अपंग रह जाएगा। अतः मनुष्य का सर्वांगीण सामाजिक विकास, उसकी उन्नति और अभिव्यक्ति केवल अपनी भाषा के माध्यम से हो सकती है, विदेशी माध्यम से नहीं।

ऐसा लगने लगा कि नवचेतना के साथ-साथ अंग्रेजी माध्यम की शाम हो चली है और सूर्यास्त के साथ ही भारतीय भाषाओं का सूर्योदय होने वाला है। स्वतंत्रता का उदय भी तो आधी रात को हुआ था।

26
सवेरे का अंधेरा

शिक्षा और शिक्षा-माध्यम के विषय में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने भारत की आत्मा, परंपरा और नवोदित स्वतंत्रता के संबंध में जो बातें कीं वे हम देख चुके । वे सब बातें सिद्धांत रूप में की गई थीं । किंतु आयोग को तो सिद्धांत पक्ष के साथ-साथ क्रियात्मक सुझाव भी देने थे । देखें उनके सुझाव कहां तक नए भारत का पथ-प्रदर्शन कर पाए ।

शिक्षा केवल व्यक्तिगत विषय नहीं है, इसकी परिधि समाज के अंतिम छोर तक जाती है और अंतर्राष्ट्रीय सीमा को भी छूती है । शिक्षित वर्ग न केवल अपने देश में ही वैधानिक और राष्ट्रीय संतुलन बनाकर सामूहिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी देश की ओर से महत्त्वपूर्ण योगदान देता है । उस योगदान के लिए आवश्यकता है वास्तविक उपलब्धियों की जो विभिन्न क्षेत्रों में समूचे मानव समाज को आगे ले जा सकें । ये उपलब्धियां मात्र सुनी-सुनाई बात के पुनरावर्तन से, वाग्विलास से, शब्दांतरण से अथवा वैचारिक अनुकरण से नहीं हो सकतीं । वे तो मौलिक पर्यवेक्षण, चिंतन, दर्शन और वैचारिक अनुशीलन से ही हो सकती हैं । इन सब मानसिक परिक्रियाओं के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो शब्द और वस्तु के अंतर को समाप्त करके हमारे चेतना-पटल पर शब्द को वस्तुभूत कर दे, और वह भाषा केवल वही हो सकती है जो हमारी पहली जीवन अनुभूति की अभिव्यंजक एवं साधक हो । यदि हम एक भाषा सीख चुके हैं और वह भाषा हमारी पहली भाषा है, चाहे वह भाषा मातृभाषा हो, या क्षेत्रीय भाषा हो या अखिल देश की भाषा हो, तो वही भाषा हमारे वास्तविक ज्ञानार्जन और ज्ञान-परिवर्धन का माध्यम हो सकती है । यदि हम दूसरी भाषा, देशी या विदेशी, सीखना भी चाहें तो भी उसी पहली भाषा के माध्यम से सीखेंगे । हां, दूसरी भाषा को सीखने के दौरान यदि हमारा वातावरण ही बदल जाए जहां पहली भाषा का प्रयोग तो क्या उसकी तरफ संकेत भी न होता हो तो दूसरी बात है । इसी बात को सामने रखकर विदेशी भाषा अर्थात् अंग्रेजी को सीखने की प्रक्रिया को चार्ल्स ग्रांट ने मानसिक अनुवाद कहा था । मकाले का मत भी यही था और लार्ड कर्जन ने तो यहां तक कह दिया था कि जो व्यक्ति अपनी मातृभाषा को अच्छी तरह नहीं जानता वह विदेशी भाषा भी नहीं सीख सकता । इन्हीं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन् आयोग ने सबल रूप से प्रारंभ में भारतीय भाषा का पक्ष लिया, विशेषकर हिंदी का ।

भारतीय भाषा के पक्ष में आयोग ने दो प्रकार के कारण सुझाए : एक ऐतिहासिक और

दूसरा मनोवैज्ञानिक । और इन दोनों कारणों की व्याख्या उन्होंने विदेशी माध्यम के दृष्टांत के आधार पर की ।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान और अनुसंधान की परंपरा की चर्चा करते हुए लिखा कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही विद्या नैतिकता की बड़ी ऊंची परंपरा रही है । मनु महाराज ने कहा था :

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अर्थात् देश-विदेश से लोग आकर यहां के विद्वानों और ऋषियों से चरित्र-शिक्षा लेते थे और समस्त पृथ्वी पर उसका प्रचार करते थे । आयोग ने दुख से यह कहा कि बाद में हमारा देश इस क्षेत्र में ढीला पड़ गया और हमारी नेतृत्व-परंपरा लुप्त हो गई । आयोग ने आशा व्यक्त की कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बौद्धिक स्वतंत्रता का उदय होगा । यह नया उदय कैसे होगा ? इस स्वतंत्रता और उन्नति के तरीके को समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि हमारी परंपरा का लोप क्यों और कैसे हुआ । इस परंपरा के लोप का कारण था विदेशी भाषा का उद्गम, राष्ट्रीय मानस का विभाजन, और वैचारिक सूखा । हमने अंग्रेजी माध्यम को अपनाकर बड़ी भारी कीमत अदा की है । तर्क और विचार पर जोर देने के स्थान पर हमने तोता-रटंत पर जोर दिया । हमने वास्तविक ज्ञान के स्थान पर शब्द-ज्ञान को अपना लिया । इसका दुष्प्रभाव पड़ा हमारे मौलिक चिंतन पर और मातृभाषा साहित्य-विकास पर । हम अंग्रेजी को तो कोई योगदान दे नहीं पाए, उलटा अपने को निर्धन बना लिया । शायद ही कोई एक भाषा-भाषी दूसरी भाषा के माध्यम से किसी उच्च साहित्य का सर्जन कर सके । जब शिक्षित वर्ग किसी विदेशी भाषा का भक्त होता है तो देश को बौद्धिक और सामाजिक दोनों प्रकार की हानि उठानी पड़ती है । संस्कृति, शिष्टता और सच्चे भ्रातृत्व की उन्नति और प्रचार केवल अपनी भाषा और साहित्य से ही हो सकता है । सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और मनोवैज्ञानिक कारणों को सामने रखते हुए आयोग ने सिफारिश की कि माध्यम परिवर्तन के रास्ते में कितनी ही कठिनाइयां और खतरे क्यों न हों अंततोगत्वा परिवर्तन करना ही पड़ेगा । (पृ० I, 141, 317)

परिवर्तन करें तो किस दिशा में ? हिंदी, केवल हिंदी । हिंदी का समर्थन करने के लिए आयोग के द्वारा दो विकल्पों पर विचार किया गया । एक अंग्रेजी और दूसरा संस्कृत । संस्कृत की चर्चा हम बाद में करेंगे, अंग्रेजी पर पहले विचार करते हैं । एक शती से अधिक समय से अंग्रेजी के रंग में रंगे अफसर-बाबू अपनी सत्तासिद्ध भाषा को छोड़ने को तैयार नहीं थे । अंग्रेजी छोड़ने के प्रश्न पर उनकी भावनाएं आवेश में आ जाती थीं । यह भी कहा जाता था कि वास्तव में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एकता अंग्रेजी भाषा और साहित्य की ही तो देन है, और यदि अंग्रेजी का सबल प्रभाव समाज पर से हट गया तो देश फिर से उसी मतभेद और आंतरिक विभाजन का शिकार हो जाएगा जिसे वह पहले भुगंत चुका है । फिर आधुनिक सभ्यता, विज्ञान, दर्शन इत्यादि से संबद्ध मौलिक विचार भी तो अंग्रेजी से ही मिले हैं । अतः अंग्रेजी के माध्यम से ही हम अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान, नीति और साहित्य से संपर्क बनाए रख सकते हैं । अंग्रेजी

के पक्ष में ये सब सबल कारण थे । अंग्रेजी को छोड़ना मानो सांस्कृतिक और सामाजिक कृतघ्नता का ऐतिहासिक प्रतीक हो, ऐसा लगता था । (पृ० I, 316)

साथ में खुले शब्दों में यह कहा गया कि हिंदी भी कोई समृद्ध और सर्वमान्य भाषा तो नहीं । हिंदुस्तानी और उर्दू का भी स्रोत वही है जो हिंदी का है । फिर हिंदुस्तानी या उर्दू क्यों नहीं, हिंदी ही क्यों ? और हिंदी का कौन-सा रूप ? पूर्वी ? पश्चिमी ? इनमें से भी कौन-सा ? अथवा खड़ी बोली ? विज्ञान संबंधी शब्दावली तो उसमें है ही नहीं । शुद्ध हिंदी के पक्षधर संस्कृत को स्रोत भाषा मानने के अतिरिक्त प्रत्येक दूसरी भाषा के शब्दों पर नाक-भौं क्यों चढ़ाते हैं ? मानो शिक्षा और प्रशासन जगत में उन्हीं का साम्राज्य होने वाला है । अंग्रेजी समृद्ध है, विकसित है, प्रतिष्ठित है, तो अंग्रेजी ही क्यों न चले ?

आयोग ने यह दलीलें नहीं मानीं । अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बने रहने देना तो शिक्षण और राष्ट्रहित दोनों के विरुद्ध होगा । बहुत दिनों पहले रवीन्द्र ठाकुर ने 'शिक्षा के हेरफेर' नामक निबंध में लिखा था कि बचपन में जब बच्चे भाषा सीखते हैं तो उस आयु में वे विचारों के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते और बड़े होकर जब वे विचारों की ओर बढ़ते हैं तो विदेशी भाषा के पचड़े में पड़कर पीछे रह जाते हैं । उनको भाषा के साथ विचार नहीं मिलते और विचारों के लिए भाषा नहीं मिलती । ऐसी ही बात आयोग ने भी कही : स्कूल में प्रवेश पाने से पहले बच्चे अपनी मातृभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जो उनके ऐंद्रिय अनुभव और दिनचर्या को व्यक्त करने के लिए काफी है । जब वे स्कूल में जाते हैं तो विचारों की एक दूसरी भाषा उनके ऊपर थोपी जाती है । इस दुरंगी भाषा और भाषा-विचार-अंतर से बच्चों का मानसिक विघटन हो जाता है और उनके व्यक्तित्व में एक विभाजन खड़ा हो जाता है । जीवन के दैनिक और वास्तविक तथ्यों, अनुभवों और मूल्यों के लिए वे मातृभाषा का प्रयोग करते हैं और स्कूली अनुभवों और विचारों के लिए विदेशी भाषा का । परिणाम यह होता है कि अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिए उनके पास विचार नहीं होते और विचारों को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा नहीं होती । केवल व्यक्ति का ही नहीं, सारे राष्ट्र का विभाजन मानसिक स्तर पर हो जाता है, और केवल अंग्रेजी के कारण । सारा देश इसी प्रकार बाबू मानस् का शिकार हो गया । अंग्रेजी के कारण सारे देश का विभाजन कैसे हुआ ? एक ओर राष्ट्र के वे गिने-चुने लोग जो अंग्रेजी के आधार पर राज करते हैं और दूसरी ओर जनता की वह भीड़ जिस पर वे राज करते हैं । दोनों एक-दूसरे की भाषा को नहीं समझते । शासित तो अंग्रेजी नहीं जानते और शासक जनभाषा नहीं जानते । दोनों एक-दूसरे को न जानते न समझते । यह तो जनतंत्र की अवहेलना है । और जनतंत्र को नकारा नहीं जा सकता । इस कारण अंग्रेजी को तो जाना ही पड़ेगा । शुभस्य शीघ्रम् । (पृ० I, 316-17)

अंग्रेजी विकल्प को छोड़ने के बाद एक विकल्प और बचा, संस्कृत । अंग्रेजी के विरुद्ध और संस्कृत के पक्ष में जो कारण दिए गए वे अत्यंत सबल थे : संस्कृत भारत के जनमानस् और प्राचीनतम परंपरा की भाषा है । संस्कृत हमारे धर्म और आचार-संहिता की भाषा है । इसकी महानता, मधुरता और सौष्ठव अद्वितीय हैं । चाहे संस्कृत बोली न जाती हो किंतु फिर भी वह

हमारे वातावरण और वैयक्तिक एवं सामाजिक श्वास-प्रश्वास में ओतप्रोत है । हालांकि हिंदू संस्कृत से प्रेम करते हैं और संस्कृत साहित्य में श्रद्धा रखते हैं तथापि वह व्याकरण, काव्य और दूसरे सभी प्रकार के साहित्य के कारण सभी के लिए आदरणीय होनी चाहिए । (अनुच्छेद 41)

संस्कृत के विरोध में भी कुछ कारण बतलाए गए । एक तो यह कि संस्कृत को राजभाषा बनाना वास्तविकता से दूर जाना होगा । दूसरे यह कि अत्यंत सुंदर होने के साथ-साथ यह अत्यंत कठिन भाषा भी है । इसलिए यह कभी जनता की भाषा नहीं बन पाएगी । आज थोड़े परंपरागत शिक्षित परिवारों और कुछ उद्यमशील लोगों को छोड़कर कोई भी तो दैनिक जीवन में इसका प्रयोग नहीं कर रहा । यदि इसको शिक्षा का माध्यम भी बना दिया गया तो विद्यार्थी का बहुत सारा समय केवल भाषा को सीखने में ही निकल जाएगा । आयोग ने यह भी नोट किया कि संस्कृत अंग्रेजी से भी कठिन भाषा है, इसलिए अधिकतर विद्यार्थी संस्कृत-माध्यम के कारण ही विश्व-विद्यालय तक नहीं पहुंच पाएंगे । परिणाम यह होगा कि शिक्षित और जनसाधारण एवं शासक और शासित वर्ग के बीच संस्कृत भाषा एक दीवार बनकर खड़ी हो जाएगी । जनता कभी भी संस्कृत के माध्यम से देश के प्रशासन संबंधी कार्यों में भाग नहीं ले पाएगी । यह भी जनतंत्र की अवहेलना होगी । (अनुच्छेद 42)

यदि अंग्रेजी और संस्कृत दोनों ही विकल्प अमान्य हों तो एक ही विकल्प बचा, वह था हिंदी । हिंदी के पक्ष में आयोग ने अनुच्छेद 43 में लिखा : शिक्षा और प्रशासन के माध्यम के लिए कोई विकल्प नहीं, सिवाय हिंदी के । नए भारत के लिए एक ऐसी भाषा को चुना जाए जो देश की जनता के अधिकतम भाग द्वारा बोली जाती हो, उसी भाषा को राजभाषा का स्थान दिया जाए और उसी स्थान और महत्त्व के अनुसार उसका विकास किया जाए । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह स्थान केवल हिंदी ही ले सकती है जिसे देश की 12 करोड़ जनता बोलती है । इस भाषा में अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का समावेश होना चाहिए । इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार हिंदी का विकास करना पड़ेगा—यदि वह केंद्रीय भाषा बन जाए तो । एक नया 'यदिवाद' !

इस नए 'यदिवाद' के पीछे अनेक प्रश्न खड़े थे : यदि हिंदी केंद्रीय भाषा बन गई तो अहिंदी-भाषी लोगों का राजकार्य में भाग और योगदान कम नहीं हो जाएगा ? क्या हिंदी-भाषियों को राजकार्य में अनुचित लाभ नहीं मिलेगा ? क्या केंद्र अहिंदी-भाषी बुद्धिजीवियों के योगदान से वंचित नहीं रह जाएगा ? इनके अतिरिक्त और प्रश्न भी उठाए गए :

1. प्रादेशिक सरकारों, विधान सभाओं और उच्च न्यायालयों की भाषा क्या होगी/होंगी ?
2. केंद्रीय और प्रादेशिक भाषाओं का क्या संबंध रहेगा ?
3. केंद्र और प्रदेश/राज्य की सरकारों का परस्पर संचार का माध्यम क्या होगा ?
4. केंद्रीय और प्रादेशिक सेवा चयन परीक्षाओं का माध्यम क्या होगा ?
5. यदि हिंदी केंद्रीय भाषा बनी तो विज्ञान और टेक्नोलजी के क्षेत्र में समस्त भारत

> के विद्वान् और अध्यापक भारत में सभी जगह स्थान कैसे पाएंगे ? क्या संकुचित चयन से अखिल भारतीय विज्ञान का रूप विकृत नहीं हो जाएगा ? (अनुच्छेद, 44-45, पृ० I, 319-20)

इन प्रश्नों के उठते ही फिर अंग्रेजी की छाया सामने आ कर खड़ी हो गई और अंग्रेजी की शाम तो हुई या न हुई, पर हिंदी का उदय अवश्य धुंधला पड़ गया । हिंदी को केंद्रीय भाषा मानकर इन प्रश्नों के संदर्भ में आयोग को मानो खिंची तार पर चलना पड़ा । आयोग ने लिखा कि हमें केंद्रीय भाषा के माध्यम से देश की एकता और अखंडता का संरक्षण और संवर्धन तो करना है किंतु साथ में शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में जो प्रादेशिक भाषाओं का योगदान है उसे भी बनाए रखना है । इसलिए हमें ऐसी भाषा-नीति अपनानी होगी जिससे केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषाओं के परस्पर महत्त्व का संतुलन बना रहे और देश के सभी भाषा-भाषी नागरिकों के हितों की बराबर रक्षा की जा सके । (अनुच्छेद 45, पृ० I, 320)

अब तो केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास, स्थिति और महत्त्व की तुलना करना आवश्यक हो गया । अंग्रेजी की छाया तले तो सब कुछ था ही । अंग्रेजी को 'अनसाउंड' अर्थात् भारी भूल मानकर भी उसकी प्रशंसा खुले शब्दों में की गई कि अंग्रेजी स्थानीय अथवा क्षेत्रीय लागलपेट से मुक्त है । दूसरे शब्दों में यह कहा जाएगा कि हिंदी के साथ किसी के हित अथवा अहित जो भी जुड़े हैं उनकी अपेक्षा अंग्रेजी के सामने सब बराबर हैं । अंग्रेजी किसी की मातृभाषा तो नहीं, सभी के लिए वह तो विदेशी भाषा है और उसके माध्यम से सभी का लाभ-हानि बराबर है । हिंदी से ऐसी समता की अपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि देश का बहुत बड़ा वर्ग हिंदी-भाषी है किंतु शेष तो अहिंदी-भाषी है । इसलिए सारे देशवासियों के संतुलित हितों को सामने रखते हुए आयोग ने यह कह दिया कि केंद्रीय भाषा के प्रश्न पर हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा । (अनुच्छेद 46)

वह बदलाव क्या हो ? आयोग ने पहले तो स्वयं ही यह सुझाया था कि केंद्र की भाषा हिंदी हो और वह अंग्रेजी का स्थान ले । यह सुझाव आयोग ने ऐतिहासिक और सामयिक स्वतंत्रता संबंधी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दिया था । आयोग ने अब कहा कि अंग्रेजी और भारत की सभी भाषाओं के संदर्भ में हमें यह विचार छोड़ना होगा कि केंद्रीय शासन और सारे भारत में उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम एक हो । भारतीय भाषाओं के मध्य हिंदी के प्रभुत्व का कोई स्वाभाविक अथवा वास्तविक आधार नहीं है । यह कांटा बदलना था कि हिंदी की तथाकथित कमियां सामने आ गईं । यह मानते हुए भी कि हिंदी बोलने वाले किसी और भाषा के बोलने वालों से संख्या में अधिक हैं हिंदी को अल्पसंख्यकों की भाषा कह दिया गया, चाहे वह अल्पसंख्या अपने आप में कितनी ही बड़ी क्यों न हो । दूसरी किसी भारतीय भाषा की अपेक्षा उसमें कोई विशेषता भी नहीं दीखी । इतिहास और साहित्य की दृष्टि से तमिल संस्कृत के समकक्ष है । मराठी तेरहवीं शती से, बंगला नवीं शती से, उर्दू पंद्रहवीं शती से और ब्रजभाषा सोलहवीं शती से प्रारंभ हुई जबकि खड़ी बोली का इतिहास तो अधिक से अधिक डेढ़ सौ वर्ष पुराना है । और

हिंदी में रवीन्द्र ठाकुर और इकबाल सरीखे लेखक तो अभी जन्मे ही नहीं । ब्रजभाषा और अवधी साहित्य का मुकाबला तो हिंदी साहित्य कर ही नहीं सकता । (अनुच्छेद 46)

और फिर केवल एक ही केंद्रीय भाषा का होना अनिवार्य है क्या ? कैनेडा में दो भाषाएं हैं—अंग्रेजी और फ्रेंच; स्विट्जरलैंड में तीन हैं—जर्मन, इटेलियन और फ्रेंच; बेल्जियम में दो भाषाएं हैं—बालून और फ्लेमिश । फ्रांस में फ्रेंच अवश्य है और अमरीका में अंग्रेजी है, पर भारत में हिंदी की वह स्थिति नहीं है जो फ्रांस में फ्रेंच की है अथवा अमरीका में अंग्रेजी की है । इसी प्रकार रूस में भी कई भाषाओं को मान्यता मिली हुई है, पर रूसी केवल अपनी आंतरिक और सामाजिक शक्ति के आधार पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए है । हिंदी की ऐसी सत्तासिद्ध स्थिति भारत में न पाकर कमीशन ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही जो आज भी हमारी भाषा-नीति से संबद्ध है, हमारे मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के साथ जुड़ी हुई है :

इन परिस्थितियों में हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताएं हमें मजबूर तो करती हैं कि हम हिंदी-हिंदुस्तानी को केंद्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करें किंतु यह भी कठिन है कि उसे वही महत्त्व और स्थान दिया जाए जो हमने अंग्रेजी को अपनी भूमिका निभाने के लिए दिया है । (अनुच्छेद 47, पृ० I, 321)

इसे कहते हैं एक हाथ से देना और दूसरे हाथ से लेना । क्या इसका अर्थ यह है कि हिंदी अर्थात् एक भारतीय भाषा जो केंद्रीय भाषा का स्थान पा ले वह भी केंद्रीय भूमिका नहीं निभा पाएगी ? क्या अंग्रेजी की छाया उसे पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने देगी ? एक ओर तो आयोग ने कहा कि अंग्रेजी जनतंत्र की अवहेलना है । कारण ? अंग्रेजी जनता को दो वर्गों में बांटती है : एक वे शिक्षित लोग जो राज और राष्ट्र के कर्णधार हैं, और दूसरे वे जो अशिक्षित हैं, देश की रीढ़ की हड्डी हैं, लेकिन सिवाय बेबसी के कोई दूसरी भूमिका नहीं निभा पा रहे । यदि जनतंत्र की भूमिका निभाने के लिए एक केंद्रीय भाषा चाहिए जो भारतीय परिवार की हो, और यदि वह भाषा हिंदी है तो हिंदी की यह अवहेलना क्यों ? लगता ऐसा है कि समस्या पर विचार करने वाले सभी अंग्रेजीनिष्ठ थे और यद्यपि उन्होंने रवीन्द्र ठाकुर और इकबाल को पहचाना पर पंत, प्रसाद और निराला को याद नहीं कर पाए । अंग्रेजी को जनतंत्र की अवहेलना कह कर भी हिंदी के मुकाबले वे अंग्रेजी का ही समर्थन कर गए, यह कहकर कि हिंदी के साथ जो स्थानीय या क्षेत्रीय पक्षपात जुड़े हुए हैं अंग्रेजी उनसे पूर्णतया मुक्त है । अर्थात् हिंदी यदि योग्यता के आधार पर हिंदी-भाषियों के पक्ष में और अहिंदी-भाषियों के विरुद्ध असमानता का कारण बनकर जनतंत्र की अवहेलना करती है तो अंग्रेजी के साथ अयोग्यता के आधार पर सभी को समानता प्रदान करके जनतंत्र का साधन बनती है । जिस अयोग्यता के आधार पर उन्होंने अंग्रेजी को मान्यता दी उसी कथित अयोग्यता एवं असमानता के आधार पर उन्होंने संस्कृत को क्यों नहीं मान लिया ? संस्कृत में तो इकबाल और टैगोर से भी बड़े साहित्यकार हो चुके हैं और उसके माधुर्य और सौष्ठव को तो संसार के सभी विद्वान् मानते हैं, केवल लार्ड मकाले को छोड़कर । सीधा निष्कर्ष यह निकलता है कि आयोग के सदस्य अंग्रेजी परंपरा में शिक्षित होने के कारण अपने मानसपटल

पर पड़े अंग्रेजी संस्कारों से छुटकारा नहीं पा सके और एक अयोग्यता, असमताबद्ध जनतंत्र के पक्ष में देश की जनता के साथ न्याय नहीं कर पाए । वे न हिंदी का समर्थन कर पाए, न ही अंग्रेजी का, पर अंग्रेजी को अपने स्थान पर तो छोड़ ही दिया ।

फिर भी आयोग ने हिंदी का समर्थन किया किंतु मजबूर होकर । सो भी एक सीमा तक :

1. राष्ट्र की आवश्यकताओं को देखते हुए हमें हिंदी/हिंदुस्तानी को केंद्रीय भाषा के रूप में मानना पड़ेगा ।
2. किंतु यह मुश्किल है कि इसे वह रोल दिया जाए जो कि अंग्रेजी ने अदा किया है ।
3. केंद्रीय भाषा केंद्रीय क्रियाकलाप में प्रयोग की जाएगी अर्थात् सभी सांस्कृतिक, शिक्षा संबंधी और प्रशासनिक कार्यों में ।
4. प्रदेशों और संघ की इकाइयों के अंदर प्रादेशिक भाषाओं का वही स्थान होगा जो केंद्र में केंद्रीय भाषा का होगा ।
5. भारत के शिक्षित नागरिकों को दो भाषाएं सीखनी पड़ेंगी, प्रादेशिक भाषा और केंद्रीय भाषा, ताकि प्रदेश एवं संघीय इकाइयां संघीय कामों में पूरा भाग ले सकें और अंतर्राज्यीय भावना और एकता को बढ़ावा मिले ।
6. सेकंडरी स्तर और विश्वविद्यालय स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी को तीन भाषाएं आनी चाहिए : क्षेत्रीय भाषा, केंद्रीय भाषा और अंग्रेजी (ताकि वह अंग्रेजी में पुस्तकें पढ़ सके) ।

इस प्रकार आयोग के द्वारा तीन भाषाओं की सिफारिश की गई । शिक्षा-माध्यन के संबंध में उनके विचार इस प्रकार थे :

1. प्रदेशों में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो । प्रादेशिक माध्यम से विद्यार्थियों का शिक्षा-स्तर ऊंचा होगा और वे रिसर्च में भाग ले सकेंगे । विश्वविद्यालय-स्तर तक शिक्षा प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से हो । (इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदी-क्षेत्र में शिक्षा-माध्यम हिंदी हो ।)
2. प्रदेशों को यह छूट हो कि वे प्रादेशिक भाषा के साथ-साथ कुछ विषयों में अथवा सभी विषयों में केंद्रीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार कर लें । सह-माध्यम के इस क्षेत्र में वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने प्रयोग करें ।
3. किसी विद्यार्थी को डिग्री न मिले जब तक कि वह अंग्रेजी लेखकों की पुस्तकें पढ़ने में सक्षम न हो । अंग्रेजी पढ़ना हमारा युगधर्म है ।

भाषा-विकास के बारे में यह कहा गया कि :

1. केंद्रीय भाषा अर्थात् हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाए और देवनागरी लिपि का सुधार किया जाए ।
2. हिंदी में सभी स्रोतों से शब्द लेकर शब्दावली का विस्तार किया जाए विशेषकर

प्रादेशिक भाषाओं से । जो शब्द बाहर से आ गए हैं उन्हें रखा जाए ।

3. विज्ञान और टेक्नोलजी के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली को अपनाया जाए, उनका उच्चारण और लिखित रूप भारतीय भाषा के अनुसार निश्चित किया जाए ।
4. वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों का एक बोर्ड बनाया जाए जो विज्ञान-शब्दावली तैयार करे । वह शब्दावली सभी भारतीय भाषाओं में स्वीकार की जाए । वही बोर्ड विज्ञान के विविध क्षेत्रों में पुस्तकें तैयार कराए ।
5. राज्य सरकारें सभी हायर सेकंडरी स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में केंद्रीय भाषा पढ़ाने का प्रबंध करें ।
6. सभी हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी पढ़ाई जाए ।

यहां इन सिफारिशों का अध्ययन और मूल्यांकन करना उचित होगा ।

स्वतंत्र भारत के योजनाबद्ध विकास में शिक्षा क्या और कैसे भूमिका निभाए इस प्रश्न के अंतर्गत विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ था । आयोग से अपेक्षा की गई थी कि वह भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा पद्धति का अध्ययन करे और देश की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा पद्धति में फेरबदल का सुझाव दे अर्थात् कहां सुधार चाहिए और कहां विस्तार । इसी कार्यक्रम के अंतर्गत शिक्षा-माध्यम भी एक मुद्दा था ।

शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए आयोग ने शिक्षा को सृष्टि, समाज और मानव प्रकृति के संदर्भ में देखा । सृष्टि को उन्होंने तीन भागों में बांट कर देखा : (1) प्रकृति, (2) समाज, (3) आत्मा ।

इन तीनों को सामने रखकर शिक्षा-विषयों का वर्गीकरण किया गया । तीनों को समझने के लिए विज्ञान और टेक्नोलजी, सामाजिक विज्ञान, और साहित्य, कला-धर्म इत्यादि के रूप में समस्त विषयों का वर्गीकरण किया गया । विज्ञान और टेक्नोलजी के द्वारा मनुष्य प्राकृतिक तथ्यों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है । सामाजिक विज्ञान के द्वारा वह सामाजिक तथ्यों, प्रक्रियाओं और मूल्यों का अध्ययन करता है, और धर्म, दर्शन, कला इत्यादि के माध्यम से वह सनातन, सार्वभौम, सर्वकालीन तथ्यों तथा मूल्यों का अध्ययन करता है । अथवा हम यों कह सकते हैं कि प्राकृतिक तथ्यों और टेक्नोलजिकल उपलब्धियों के आधार पर, सामाजिक तथ्यों और प्रक्रियाओं के संदर्भ में, सार्वभौम, सर्वकालीन मूल्यों (अर्थात् सनातन मूल्यों/धर्म) की सिद्धि के लिए युगधर्म को समझने और उसके अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए मनुष्य शिक्षा से प्रेरणा लेता है । अतः शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य सामयिक सफलता नहीं है । सामयिक सफलता भी आवश्यक है किंतु वह उसी समय तक सराहनीय है जब तक वह सनातन सिद्धि में योग दे । मात्र सामयिक सफलता तो अवसरवाद ही कहलाएगा । सनातन मूल्य मनुष्य को अवसरवाद से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हैं ।

इस दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि महत्त्वपूर्ण हो जाती है । आयोग ने शिक्षा की इस पृष्ठभूमि का और वर्तमान परिस्थितियों का

पर्यवेक्षण किया । वर्तमान परिस्थितियों का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह था कि भारत अंग्रेजी दासता के युग से निकलकर एक स्वतंत्र गणराज्य के रूप में अपने नए इतिहास के निर्माण युग में प्रवेश कर चुका था और सनातन परंपरा से प्रेरित होकर नए युगधर्म के मूल्यों को अपने विधान में लिपिबद्ध कर रहा था । ये मूल्य थे : न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व । जनतंत्र केवल शासन प्रणाली ही नहीं, एक जीवन शैली भी है, एक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं, एक धर्म भी है । यह केवल एक उपलब्धि नहीं है, एक जिज्ञासा और खोज भी है । इसी धर्म, जिज्ञासा और खोज को हम कह सकते हैं सेक्यूलरिज़्म जो लोकधर्म का ही पर्याय है । इसी कारण जनतंत्र नितांत परिवर्तनशील है, जिस परिवर्तन में एक विशेष प्रकर की सजीव स्थिरता भी है । परिवर्तन, प्रगति और स्थिरता, संयम और स्वतंत्रता, सत्ता और उत्तरदायित्व, इन सभी का समीकरण, संतुलन और संप्राप्ति, यही तो जनतंत्र की खोज है । इस खोज का आधार और उपकरण शिक्षा है जो सामूहिक स्तर पर व्यवस्थित होकर दोनों की सिद्धि के लिए व्यक्ति और समष्टि दोनों के माध्यम से राष्ट्र को लक्ष्य की ओर बढ़ाती है ।

इस सामूहिक लक्ष्य की खोज में व्यक्ति और समष्टि दोनों का महत्त्व है । राष्ट्र, संगति और प्रगति एक राग है जो निरंतर चलता रहता है । इसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों महत्त्वपूर्ण हैं । प्रत्येक व्यक्ति एक सुर है और सभी व्यक्ति मिलकर समष्टि राग की संरचना करते हैं । सुर के बिना राग नहीं और राग के बिना सुर नहीं । इसलिए जनतंत्र के अंदर शिक्षा का उद्देश्य है प्रत्येक सुर को सबल और सरस बनाना । जनतंत्र में शिक्षा कभी भी किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं होती । इसी कारण शिक्षा-माध्यम भी किसी वर्ग-विशेष की भाषा नहीं होना चाहिए । जनतंत्र की सच्ची सिद्धि के लिए शिक्षा-माध्यम अनिवार्य रूप से जनता की भाषा ही होना चाहिए ।

व्यक्ति अपनी भूमिका निभाने के लिए सक्षम कैसे हो ? इसके लिए आयोग ने व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया । मनुष्य के अंदर तीन प्रकार की मानसिक शक्तियां हैं । ये हैं : ज्ञान, भाव और इच्छा (कर्मशक्ति) । ये तीनों प्रत्येक व्यक्ति के अंदर किसी न किसी मात्रा और अनुपात में होते हैं और ये उसके अंतरात्मा के अंग होते हैं । इन तीनों के माध्यम से हम उसके अंतरात्मा को छू सकते हैं । शिक्षक का यह दायित्व है कि वह इन तीनों के माध्यम से विद्यार्थी को सबल और सरस बनाए । इसी कारण यह आवश्यक है कि हम अपने आप से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछें और मिलकर उसका उत्तर खोजें : मनुष्य के अंतरात्मा को कैसे छूएं ? आयोग के अपने शब्दों में भाषा समाज के अंतरात्मा का मूर्त और व्यक्त रूप है । यदि किसी व्यक्ति या समाज के आत्मा को छूना है तो उसकी अपनी भाषा के मांध्यम से छूओ । यदि आपको उसकी भाषा पर अधिकार है तो उसी के शब्दों में आप उसके मन को जीत सकते हैं । शिक्षा में समाज की भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन का स्थान पहला है । (अध्याय 2, अनुच्छेद 12, पृ० I, 39)

तो परतंत्र और स्वतंत्र भारत में मूल अंतर यह रहा कि परतंत्र भारत के दिमाग पर अधिकार पाने के लिए शासक ने उसे विदेशी भाषा दी और उसको अपनी संस्कृति और परंपरा से काटने का प्रयास किया । स्वतंत्र भारत की आकांक्षा यह रही कि देश को अपनी परंपरा,

सभ्यता, संस्कृति और आत्मा से जोड़कर प्रयत्नशील आधुनिक युग में प्रगतिशील बनाया जाए । अतः शिक्षा का माध्यम देश की भाषा या भाषाएं हों । विदेशी भाषा तो शिक्षा-माध्यम हो ही नहीं सकती । यही कारण था कि आयोग ने कहा था कि यदि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रखा गया तो यह जनतंत्र और स्वतंत्रता की अवहेलना होगी ।

अब देखें कि आयोग की अपनी सिफारिशें उन्हीं की कसौटी पर कितनी खरी उतरती हैं । शिक्षा-माध्यम पर विचार प्रारंभ करते समय आयोग ने एक बात कही थी : शिक्षा संबंधी किसी और समस्या पर इतना विवाद और मतभेद नहीं हुआ जितना माध्यम के प्रश्न पर (पृ० I, 305) । यही बात शायद आयोग के अपने संबंध में भी ठीक हो ।

आयोग ने स्वतंत्रता सेनानियों की एक प्रबल भावना का आदर किया : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, प्रशासन तथा संपर्क के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के स्थान पर कोई भारतीय भाषा आनी चाहिए । वास्तव में स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही यह परिवर्तन हो जाना चाहिए था । (वही, पृ० I, 305) । भारतीय जीवन और व्यवहार के प्रति अंग्रेजी के योगदान के बावजूद इस तत्य का भी आदर किया गया कि अंग्रेजी भारत की जनता को शिक्षित और अशिक्षित दो वर्गों में विभाजित करती है और जनतंत्र की अवहेलना करती है, और यह भी माना गया कि परिवर्तन तो करना ही पड़ेगा, आज नहीं तो कल ।

यदि परिवर्तन आना ही है तो भाषा कौन-सी हो ? उत्तर : हिंदी । इस उत्तर के साथ-साथ राष्ट्रीय मजबूरी की चर्चा करके हिंदी के रास्ते में जो कठिनाई आ सकती थीं और हिंदी के साथ आएंगी एवं क्षेत्रीय भाषाओं का जो भी विरोध होगा तथा हिंदीतर भाषा-भाषियों को जो भी हानियां और हिंदी-भाषियों को जो अनुचित लाभ होने की आशंकाएं थीं उन सबका विवरण देकर आयोग ने यह कह दिया कि कुछ भी हो हिंदी को वह स्थान तो दिया नहीं जा सकता जो अंग्रेजी का है (पृ० I, 321) । केंद्रीय/संघीय भाषा बनने के लिए हिंदी को क्या तैयारी करनी पड़ेगी, यह भी सुझाया गया । हां, एक आशा अवश्य व्यक्त की गई कि एक दिन ऐसा आएगा जब भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच से भाषाओं की दीवारें गिर जाएंगी और समस्त भारत के लोग एक ही भाषा में बात किया करेंगे । उस समय हिंदी भारत के संसद, उच्चतम न्यायालय और केंद्रीय प्रशासन की भाषा होगी और अंततोगत्वा अंग्रेजी राजभाषा नहीं रहेगी, न राज्यों में न केंद्र में, मानो अंग्रेजी नाटक पर पर्दा गिर जाएगा । (पृ० I, 307, 325)

जनतंत्र की सिद्धि हिंदी से और उसी माध्यम के कारण क्षेत्रीय असमानता, अंग्रेजी का चले जाना और हिंदी को अंग्रेजी वाला स्थान न मिलना, क्षेत्रीय शिक्षा और प्रशासन का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएं, और हिंदी को क्षेत्रीय मानकर साथ में जब तक क्षेत्र हिंदी के लिए सहमत न हों तब तक अंग्रेजी का चलते रहना, इन सब बातों से ऐसा लगता है कि जो विवाद और मतभेद आयोग को जनता के विचारों में दीखा था वही आयोग के अपने मत में भी एक द्वंद्व बनकर रह गया । आज तक वह द्वंद्व साफ नहीं हो पाया है ।

प्रश्न था शिक्षा-माध्यम का, उलझ गया शासन-माध्यम से । किसी भी योजनाशील स्वतंत्र